व्याध गीता

(श्रीमहाभारत वनपर्वकेअन्तर्गत मार्कण्डेयसमस्या पर्व)

पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः

पतिव्रता स्त्री तथा पिता-माताकी सेवाका माहात्म्य

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा मार्कण्डेयं महाद्युतिम् ।
पप्रच्छ भरतश्रेष्ठ धर्मप्रश्नं सुदुर्विदम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ जनमेजय! तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने महातेजस्वी मार्कण्डेय मुनिसे धर्मविषयक प्रश्न किया, जो समझनेमें अत्यन्त कठिन था ।। १ ।।

श्रोतुमिच्छामि भगवन् स्त्रीणां माहात्म्यमुत्तमम् ।
कथ्यमानं त्वया विप्र सूक्ष्मं धर्म्यं च तत्त्वतः ।। २ ।।

वे बोले—'भगवन्! मैं आपके मुखसे (पतिव्रता) स्त्रियोंके सूक्ष्म, धर्मसम्मत एवं उत्तम माहात्म्यका यथार्थ वर्णन सुनना चाहता हूँ ।। २ ।।

प्रत्यक्षमिह विप्रर्षे देवा दृश्यन्ति सत्तम ।
सूर्याचन्द्रमसौ वायुः पृथिवी वह्निरेव च ।। ३ ।।
पिता माता च भगवन् गुरुरेव च सत्तम ।
यच्चान्यद् देवविहितं तच्चापि भृगुनन्दन ।। ४ ।।

'भगवन्! श्रेष्ठ ब्रह्मर्षे! इस जगत्में सूर्य, चन्द्रमा, वायु, पृथिवी, अग्नि, पिता, माता और गुरु—ये प्रत्यक्ष देवता दिखायी देते हैं। भृगुनन्दन! इसके सिवा अन्य जो देवतारूपसे स्थापित देवविग्रह हैं, वे भी प्रत्यक्ष देवताओंकी ही कोटिमें हैं' ।। ३-४ ।।

मान्या हि गुरवः सर्वे एकपत्न्यस्तथा स्त्रियः ।
पतिव्रतानां शश्रूषा दुष्करा प्रतिभाति मे ।। ५ ।।

'समस्त गुरुजन और पतिव्रता नारियाँ भी समादरके योग्य हैं। पतिव्रता स्त्रियाँ अपने पतिकी जैसी सेवा-शुश्रूषा करती हैं; वह दूसरे किसीके लिये मुझे अत्यन्त कठिन प्रतीत होती है ।। ५ ।।

पतिव्रतानां माहात्म्यं वक्तुमर्हसि नः प्रभो ।
निरुद्धय चेन्द्रियग्रामं मनः संरुध्य चानघ ।। ६ ।।
पतिं दैवतवच्चापि चिन्तयन्त्यः स्थिता हि याः ।
भगवन् दुष्करं त्वेतत् प्रतिभाति मम प्रभो ।। ७ ।।

'प्रभो! आप अब हमें पतिव्रता स्त्रियोंकी महिमा सुनावें। निष्पाप सहर्ष! जो अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखती हुई मनको वशमें करके अपने पतिका देवताके समान ही चिन्तन करती रहती हैं, वे नारियाँ धन्य हैं। प्रभो! भगवन्! उनका वह त्याग और सेवाभाव मुझे तो अत्यन्त कठिन जान पड़ता है ।। ६-७ ।।

मातापित्रोश्च शुश्रूषा स्त्रीणां भर्तरि च द्विज ।
स्त्रीणां धर्मात् सुघोराद्धि नान्यं पश्यामि दुष्करम् ।। ८ ।।

'ब्रह्मन्! पुत्रोंद्वारा माता-पिताकी सेवा तथा स्त्रियोंद्वारा की हुई पतिकी सेवा बहुत कठिन है। स्त्रियोंके इस कठोर धर्मसे बढ़कर और कोई दुष्कर कार्य मुझे नहीं दिखायी देता है ।। ८ ।।

साध्वाचाराः स्त्रियो ब्रह्मन् यत् कुर्वन्ति सदाऽऽदृताः ।
दुष्करं खलु कुर्वन्ति पितरं मातरं च वै ।। ९ ।।
एकपत्न्यश्च या नार्यो याश्च सत्यं वदन्त्युत ।

'ब्रह्मन्! समाजमें सदा आदर पानेवाली सदाचारिणी स्त्रियाँ जो महान् कार्य करती हैं वह अत्यन्त कठिन है। जो लोग पिता-माताकी सेवा करते हैं उनका कर्म भी बहुत कठिन है। पतिव्रता तथा सत्यवादिनी स्त्रियाँ अत्यन्त कठोर धर्मका पालन करती हैं ।। ९½ ।।

कुक्षिणा दश मासांश्च गर्भं संधारयन्ति याः ।। १० ।।
नार्यः कालेन सम्भूय किमद्भततरं ततः ।

'स्त्रियाँ अपने उदरमें दस महीनेतक जो गर्भ धारण करती हैं और यथासमय उसको जन्म देती हैं, इससे अद्‌भुत कार्य और कौन होगा? ।। १०½ ।।

संशयं परमं प्राप्य वेदनामतुलामपि ।। ११ ।।
प्रजायते सुतान् नार्यो दुःखेन महता विभो ।
पुष्णन्ति चापि महता स्नेहेन द्विजपुङ्गव ।। १२ ।।

'भगवन्! अपनेको भारी प्राणसंकटमें डालकर और अतुल वेदनाको सहकर नारियाँ बड़े कष्टसे संतान उत्पन्न करती हैं! विप्रवर! फिर बड़े स्नेहसे उनका पालन भी करती हैं ।। ११-१२ ।।

याश्च क्रूरेषु सत्त्वेषु वर्तमाना जुगुप्सिताः ।
स्वकर्म कुर्वन्ति सदा दुष्करं तच्च मे मतम् ।। १३ ।।

'जो सती-साध्वी स्त्रियाँ क्रूर स्वभावके पतियोंकी सेवामें रहकर उनके तिरस्कारका पात्र बनकर भी सदा अपने सती-धर्मका पालन करती रहती हैं, वह तो मुझे और भी अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है ।। १३ ।।

क्षत्रधर्मसमाचारतत्त्वं व्याख्याहि मे द्विज ।
धर्मः सुदुर्लभो विप्र नृशंसेन महात्मनाम् ।। १४ ।।

'ब्रह्मन्! आप मुझे क्षत्रियोंके धर्म और आचारका तत्त्व भी विस्तारपूर्वक बताइये। विप्रवर! जो क्रूर स्वभावके मनुष्य हैं, उनके लिये महात्माओंका धर्म अत्यन्त दुर्लभ है ।। १४ ।।

एतदिच्छामि भगवन् प्रश्नं प्रश्नविदां वर ।
श्रीतुं भृगुकुलश्रेष्ठ शुश्रूषे तव सुव्रत ।। १५ ।।

भगवन्! भृगुकुलशिरोमणे! आप उत्तम व्रतके पालक और प्रश्नका समाधान करनेवाले विद्वानोंमें श्रेष्ठ हैं। मैंने जो प्रश्न आपके सम्मुख उपस्थित किया है, उसीका उत्तर मैं आपसे सुनना चाहता हूँ' ।। १५ ।।

मार्कण्डेय उवाच

हन्त तेऽहं समाख्यास्ये प्रश्नमेतं सुदुर्वचम् ।
तत्त्वेन भरतश्रेष्ठ गदतस्तन्निबोध मे ।। १६ ।।

मार्कण्डेयजी बोले—भरतश्रेष्ठ! तुम्हारे इस प्रश्नका विवेचन करना यद्यपि बहुत कठिन है, तो भी मैं अब इसका यथावत् समाधान करूँगा। तुम मेरे मुखसे सुनो ।। १६ ।।

मातृस्तु गौरवादन्ये पितृनन्ये तु मेनिरे ।
दुष्करं कुरुते माता विवर्धयति या प्रजाः ।। १७ ।।

कुछ लोग माताओंको गौरवकी दृष्टिसे बड़ी मानते हैं। दूसरे लोग पिताको महत्त्व देते हैं। परंतु माता जो अपनी संतानोंको पाल-पोसकर बड़ा बनाती है, वह उसका कठिन कार्य है ।। १७ ।।

तपसा देवतेज्याभिवन्दनेन तितिक्षया ।
सुप्रशस्तैरुपायैश्चापीहन्ते पितरः सुतान् ।। १८ ।।

माता-पिता तपस्या, देवपूजा, वन्दना, तितिक्षा तथा अन्य श्रेष्ठ उपायोंद्वारा भी पुत्रोंको प्राप्त करना चाहते हैं ।। १८ ।।

एवं कृच्छ्रेण महता पुत्रं प्राप्य सुदुर्लभम् ।
चिन्तयन्ति सदा वीर कीदृशोऽयं भविष्यति ।। १९ ।।

वीर! इस प्रकार बड़ी कठिनाईसे परम दुर्लभ पुत्रको पाकर लोग सदा इस चिन्तामें डूबे रहते हैं कि न जाने यह किस तरहका होगा ।। १९ ।।

आशंसते हि पुत्रेषु पिता माता च भारत ।
यशः कीर्तिमथैश्वर्यं प्रजा धर्मं तथैव च ।। २० ।।

भारत! पिता और माता अपने पुत्रोंके लिये यश, कीर्ति और ऐश्वर्य, संतान तथा धर्मकी शुभकामना करते हैं ।। २० ।।

तयोराशां तु सफलां यः करोति स धर्मवित् ।
पिता माता च राजेन्द्र तुष्यतो यस्य नित्यशः ।। २१ ।।
इह प्रेत्य च तस्याथ कीर्तिर्धर्मश्च शाश्वतः ।

राजेन्द्र! जो उन दोनोंकी आशाको सफल करता है, वही पुत्र धर्मज्ञ है। जिसके माता-पिता उससे सदा संतुष्ट रहते हैं, उसे इहलोक और परलोकमें भी अक्षय कीर्ति और शाश्वत धर्मकी प्राप्ति होती है ।। २१ $\frac{१}{२}$ ।।

नैव यज्ञक्रियाः काश्चिन्न श्राद्धं नोपवासकम् ।। २२ ।।

या तु भर्तरि शुश्रूषा तया स्वर्गं जयत्युत ।

नारीके लिये किसी यज्ञकर्म, श्राद्ध और उपवासकी आवश्यकता नहीं है। वह जो पतिकी सेवा करती है, उसीके द्वारा स्वर्गलोकपर विजय प्राप्त कर लेती है ।।

एतत् प्रकरणं राजन्नधिकृत्य युधिष्ठिर ।। २३ ।।

पतिव्रतानां नियतं धर्मं चावहितः शृणु ।। २४ ।।

राजा युधिष्ठिर! इसी प्रकरणमें पतिव्रताओंके नियत धर्मका वर्णन किया जायगा। तुम सावधान होकर सुनो ।। २३-२४ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि पतिव्रतोपाख्याने पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २०५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें पतिव्रतोपाख्यानविषयक दो सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २०५ ।।

षडधिकद्विशततमोऽध्यायः

कौशिक ब्राह्मण और पतिव्रताके उपाख्यानके अन्तर्गत ब्राह्मणोंके धर्मका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

कश्चिद् द्विजातिप्रवरो वेदाध्यायी तपोधनः ।
तपस्वी धर्मशीलश्च कौशिको नाम भारत ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भरतनन्दन! कौशिक नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण था, जो वेदका अध्ययन करनेवाला, तपस्याका धनी और धर्मात्मा था। वह तपस्वी ब्राह्मण सम्पूर्ण द्विजातियोंमें श्रेष्ठ समझा जाता था ।। १ ।।

साङ्गोपनिषदो वेदानधीते द्विजसत्तमः ।
स वृक्षमूले कस्मिंश्चिद् वेदानुच्चारयन् स्थितः ।। २ ।।

द्विजश्रेष्ठ कौशिकने सम्पूर्ण अंगोंसहित वेदों और उपनिषदोंका अध्ययन किया था। एक दिनकी बात है, वह किसी वृक्षके नीचे बैठकर वेदपाठ कर रहा था ।। २ ।।

उपरिष्टाच्च वृक्षस्य बलाका संन्यलीयत ।
तया पुरीषमुत्सृष्टं ब्राह्मणस्य तदोपरि ।। ३ ।।

उस समय उस वृक्षके ऊपर एक बगुली छिपी बैठी थी। उसने ब्राह्मण देवताके ऊपर बीट कर दी ।। ३ ।।

तामवेक्ष्य ततः क्रुद्धः समपध्यायत द्विजः ।
भृशं क्रोधाभिभूतेन बलाका सा निरीक्षिता ।। ४ ।।
अपध्याता च विप्रेण न्यपतद् धरणीतले ।

यह देख ब्राह्मण क्रोधित हो गया और उस पक्षीकी ओर दृष्टि डालकर उसका अनिष्टचिन्तन करने लगा। उसने अत्यन्त कुपित होकर उस बगुलीको देखा और उसका अनिष्टचिन्तन किया था, अतः वह पृथ्वीपर गिर पड़ी ।। ४ $\frac{१}{२}$ ।।

बलाकां पतितां दृष्ट्वा गतसत्त्वामचेतनाम् ।। ५ ।।
कारुण्यादभिसंतप्तः पर्यशोचत तां द्विजः ।
अकार्यं कृतवानस्मि रोषरागबलात्कृतः ।। ६ ।।

उस बगुलीको अचेत एवं निष्प्राण होकर पड़ी देख ब्राह्मणका हृदय दयासे द्रवित हो उठा। उसे अपने इस कुकृत्यपर पश्चात्ताप हुआ। वह इस प्रकार शोक प्रकट करता हुआ बोला—'ओह! आज क्रोध और आसक्तिके वशीभूत होकर मैंने यह अनुचित कार्य कर डाला' ।। ५-६ ।।

मार्कण्डेय उवाच

इत्युक्त्वा बहुशो विद्वान् ग्रामं भैक्ष्याय संश्रितः ।
ग्रामे शुचीनि प्रचरन् कुलानि भरतर्षभ ।। ७ ।।
प्रविष्टस्तत् कुलं यत्र पूर्वं चरितवांस्तु सः ।
देहीति याचमानोऽसौ तिष्ठेत्युक्तः स्त्रिया ततः ।। ८ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार बार-बार पछताकर वह विद्वान् ब्राह्मण गाँवमें भिक्षाके लिये गया। उस गाँवमें जो लोग शुद्ध और पवित्र आचरणवाले थे, उन्हींके घरोंपर भिक्षा माँगता हुआ वह एक ऐसे घरपर जा पहुँचा, जहाँ पहले भी कभी भिक्षा प्राप्त कर चुका था। दरवाजेपर पहुँचकर ब्राह्मण बोला—'भिक्षा दें!' भीतरसे किसी स्त्रीने उत्तर दिया—'ठहरो! (अभी लाती हूँ)' ।। ७-८ ।।

शौचं तु यावत् कुरुते भाजनस्य कुटुम्बिनी ।
एतस्मिन्नन्तरे राजन् क्षुधासम्पीडितो भृशम् ।। ९ ।।
भर्ता प्रविष्टः सहसा तस्या भरतसत्तम ।

राजन्! वह घरकी मालकिन थी, जो जूँठे बर्तन माँज रही थी। ज्यों ही वह बर्तन साफ करके उधरसे निवृत्त हुई, त्यों ही उसके पतिदेव सहसा घरपर आ गये। भरतश्रेष्ठ! वे भूखसे अत्यन्त पीड़ित थे ।। ९ $\frac{१}{२}$ ।।

सा तु दृष्ट्वा पतिं साध्वी ब्राह्मणं व्यवहाय तम् ।। १० ।।
पाद्यमाचमनीयं वै ददौ भर्तुस्तथाऽऽसनम् ।
प्रह्वा पर्यचरच्चापि भर्तारमसितेक्षणा ।। ११ ।।

पतिको आया देख उस श्याम नेत्रोंवाली पतिव्रताने ब्राह्मणको तो उसी दशामें छोड़ दिया और अत्यन्त विनीतभावसे वह पतिकी सेवामें लग गयी। पानी लाकर उसने पतिके पैर धोये, हाथ-मुँह धुलाये और बैठनेको आसन दिया ।। १०-११ ।।

आहारेणाथ भक्ष्यैश्च भोज्यैः सुमधुरैस्तथा ।
उच्छिष्टं भाविता भर्तुर्भुङ्क्ते नित्यं युधिष्ठिर ।। १२ ।।

फिर सुन्दर स्वादिष्ट भक्ष्य-भोज्य पदार्थ परोसकर वह पतिको भोजन कराने लगी। युधिष्ठिर! वह सती स्त्री प्रतिदिन पतिको भोजन कराकर उनके उच्छिष्टको प्रसाद मानकर बड़े आदर और प्रेमसे भोजन करती थी ।।

दैवतं च पतिं मेने भर्तुश्चित्तानुसारिणी ।
कर्मणा मनसा वाचा नान्यचित्ताभ्यगात् पतिम् ।। १३ ।।

वह पतिको देवता मानती और उनके विचारके अनुकूल ही चलती थी। उसका मन कभी पर पुरुषकी ओर नहीं जाता था। वह मन, वाणी और क्रियासे पतिपरायणा थी ।। १३ ।।

तं सर्वभावोपगता पतिशुश्रूषणे रता ।
साध्वाचारा शचिर्दक्षा कुटुम्बस्य हितैषिणी ।। १४ ।।

अपने हृदयकी समस्त भावनाएँ, सम्पूर्ण प्रेम पतिके चरणोंमें चढ़ाकर वह अनन्यभावसे उन्हींकी सेवामें लगी रहती थी। सदाचारका पालन करती, बाहर-भीतरसे शुद्ध—पवित्र रहती, घरके काम-काजको कुशलतापूर्वक करती और कुटुम्बके सभी लोगोंका हित चाहती थी ।।

भर्तुश्चापि हितं यत् तत् सततं सानुवर्तते ।
देवतातिथिभृत्यानां श्वश्रूश्वशुरयोस्तथा ।। १५ ।।
शुश्रूषणपरा नित्यं सततं संयतेन्द्रिया ।

पतिके लिये जो हितकर कार्य जान पड़ता उसमें भी वह सदा संलग्न रहती थी। देवताओंकी पूजा, अतिथियोंके सत्कार, भृत्योंके भरण-पोषण और सास-ससुरकी सेवामें भी वह सर्वदा तत्पर रहती थी। अपने मन और इन्द्रियोंपर वह निरन्तर पूर्ण संयम रखती थी ।।

सा ब्राह्मणं तदा दृष्ट्वा संस्थितं भैक्ष्यकाङ्क्षिणम् ।
कुर्वती पतिशुश्रूषां सस्माराथ शुभेक्षणा ।। १६ ।।

पतिकी सेवा करते-करते उस मंगलमयी दृष्टिवाली देवीको भिक्षाके लिये खड़े हुए ब्राह्मणकी याद आयी ।।

व्रीडिता साभवत् साध्वी तदा भरतसत्तम ।
भिक्षामादाय विप्राय निर्जगाम यशस्विनी ।। १७ ।।

भरतवंशविभूषण! अपनी भूलके कारण वह यशस्विनी साध्वी स्त्री बहुत लज्जित हुई और ब्राह्मणके लिये भिक्षा लेकर घरसे बाहर निकली ।। १७ ।।

ब्राह्मण उवाच

किमिदं भवति त्वं मां तिष्ठेत्युक्त्वा वराङ्गने ।
उपरोधं कृतवती न विसर्जितवत्यसि ।। १८ ।।

उसे देखकर ब्राह्मणने कहा—सुन्दरी! तुम्हारा यह कैसा बर्ताव है? देख! तुम्हें इतना विलम्ब करना था तो 'ठहरो' कहकर मुझे रोक क्यों लिया? मुझे जाने क्यों नहीं दिया? ।। १८ ।।

मार्कण्डेय उवाच

ब्राह्मणं क्रोधसंतप्तं ज्वलन्तमिव तेजसा ।
दृष्ट्वा साध्वी मनुष्येन्द्र सान्त्वपूर्वं वचोऽब्रवीत् ।। १९ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! ब्राह्मण क्रोधसे संतप्त हो अपने तेजसे जलता-सा प्रतीत होता था। उसे देखकर उस पतिव्रता देवीने बड़ी शान्तिसे उत्तर दिया ।।

स्त्युवाच

क्षन्तुमर्हसि मे विद्वन् भर्ता मे दैवतं महत् ।
स चापि क्षुधितः श्रान्तः प्राप्तः शुश्रूषितो मया ।। २० ।।

स्त्री बोली—विद्वत्! क्षमा करें। मेरे लिये सबसे बड़े देवता पति हैं। वे भूखे और थके हुए घरपर आये थे। (उन्हें छोड़कर कैसे आती?) उन्हींकी सेवामें लग गयी ।।

ब्राह्मण उवाच

ब्राह्मणा न गरीयांसो गरीयांस्ते पतिः कृतः ।
गृहस्थधर्मे वर्तन्ती ब्राह्मणानवमन्यसे ।। २१ ।।

तब ब्राह्मण बोला—क्या ब्राह्मण बड़े नहीं हैं; तुमने पतिको ही सबसे बड़ा बना दिया? गृहस्थधर्ममें रहकर भी तुम ब्राह्मणोंका अपमान करती हो? ।। २१ ।।

इन्द्रोऽप्येषां प्रणमते किं पुनर्मानवो भुवि ।
अवलिप्ते न जानीषे वृद्धानां न श्रुतं त्वया ।। २२ ।।
ब्राह्मणा ह्यग्निसदृशा दहेयुः पृथिवीमपि ।

अरी! (स्वर्गलोकके स्वामी) इन्द्र भी इन ब्राह्मणोंके आगे सिर झुकाते हैं, फिर भूतलके मनुष्योंकी तो बात ही क्या है? धमंडमें भरी हुई स्त्री! क्या तुम ब्राह्मणोंका प्रभाव नहीं जानती? कभी बड़े-बूढ़ोंके मुखसे भी नहीं सुना? अरी! ब्राह्मण अग्निके समान तेजस्वी होते हैं। वे चाहें तो इस पृथ्वीको भी जलाकर भस्म कर सकते हैं ।। २२½ ।।

स्त्युवाच

नाहं बलाका विप्रर्षे त्यज क्रोधं तपोधन ।। २३ ।।
अनया क्रुद्धया दृष्ट्या क्रुद्धः किं मां करिष्यसि ।
नावजानाम्यहं विप्रान् देवैस्तुल्यान् मनस्विनः ।। २४ ।।

स्त्री बोली—तपोधन! क्रोध न करो। ब्रह्मर्षे! मैं बगुली नहीं हूँ जो तुम्हारी इस क्रोधभरी दृष्टिसे जल जाऊँगी। तुम इस तरह कुपित होकर मेरा क्या करोगे? मैं ब्राह्मणोंका अपमान नहीं करती। मनस्वी ब्राह्मण तो देवताके समान होते हैं ।। २३-२४ ।।

अपराधमिमं विप्र क्षन्तुमर्हसि मेऽनघ ।
जानामि तेजो विप्राणां महाभाग्यं च धीमताम् ।। २५ ।।

निष्पाप ब्राह्मण! तुम मेरे इस अपराधको क्षमा करो। मैं बुद्धिमान् ब्राह्मणोंके तेज और महत्त्वको जानती हूँ ।।

अपेयः सागरः क्रोधात् कृतो हि लवणोदकः ।
तथैव दीप्ततपसां मुनीनां भावितात्मनाम् ।। २६ ।।
येषां क्रोधाग्निरद्यापि दण्डके नोपशाम्यति ।

ब्राह्मणोंके ही क्रोधका फल है कि समुद्रका पानी खारा एवं पीनेके अयोग्य बना दिया गया। इसी प्रकार जिनकी तपस्या बहुत बढ़ी-चढ़ी थी और जिनका अन्तःकरण परम पवित्र हो चुका था ऐसे मुनियोंने भी जो क्रोधकी आग प्रज्वलित की थी, वह आज भी दण्डकारण्यमें बुझ नहीं पा रही है ।। २६½ ।।

ब्राह्मणानां परिभवाद् वातापिः सुदुरात्मवान् ।। २७ ।।
अगस्त्यमृषिमासाद्य जीर्णः क्रूरो महासुरः ।

ब्राह्मणोंका तिरस्कार करनेसे ही क्रूर स्वभाववाला महान् असुर अत्यन्त दुरात्मा वातापि अगस्त्य मुनिके पेटमें जाकर पच गया ।। २७½ ।।

बहुप्रभावाः श्रूयन्ते ब्राह्मणानां महात्मनाम् ।। २८ ।।
क्रोधः सुविपुलो ब्रह्मन् प्रसादश्च महात्मनाम् ।
अस्मिंस्त्वतिक्रमे ब्रह्मन् क्षन्तुमर्हसि मेऽनघ ।। २९ ।।

ब्रह्मन्! महात्मा ब्राह्मणोंके प्रभावको बतानेवाले बहुत-से चरित्र सुने जाते हैं। उन महात्माओंका क्रोध और कृपा दोनों ही महान् होते हैं। निष्पाप ब्रह्मन्! मेरेद्वारा जो तुम्हारा अपराध बन गया है, उसे क्षमा करो ।। २८-२९ ।।

पतिशुश्रूषया धर्मो यः स मे रोचते द्विज ।
दैवतेष्वपि सर्वेषु भर्ता मे दैवतं परम् ।। ३० ।।

विप्रवर! मुझे तो पतिकी सेवासे जो धर्म प्राप्त होता है, वही अधिक पसंद है। सम्पूर्ण देवताओंमें भी पति ही मेरे सबसे बड़े देवता हैं ।। ३० ।।

अविशेषेण तस्याहं कुर्यां धर्मं द्विजोत्तम ।
शुश्रूषायाः फलं पश्य पत्युर्ब्राह्मण यादृशम् ।। ३१ ।।

द्विजश्रेष्ठ! मैं साधारणरूपसे ही पतिसेवारूप धर्मका पालन करती हूँ। ब्राह्मणदेवता! इस पतिसेवाका जैसा फल है, उसे प्रत्यक्ष देख लो ।। ३१ ।।

बलाका हि त्वया दग्धा रोषात् तद् विदितं मया ।
क्रोधः शत्रुः शरीरस्थो मनुष्याणां द्विजोत्तम ।। ३२ ।।

तुमने क्रोध करके जो एक बगुलीको जला दिया था वह बात मुझे मालूम हो गयी। द्विजश्रेष्ठ! मनुष्योंका एक बहुत बड़ा शत्रु है, वह उनके शरीरमें ही रहता है। उसका नाम है 'क्रोध' ।। ३२ ।।

यः क्रोधमोहौ त्यजति तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।
यो वदेदिह सत्यानि गुरुं संतोषयेत च ।। ३३ ।।
हिंसितश्च न हिंसेत तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।

जो क्रोध और मोहको त्याग देता है, उसीको देवतागण ब्राह्मण मानते हैं। जो यहाँ सत्य बोले, गुरुको संतुष्ट रखे, किसीके द्वारा मार खाकर भी बदलेमें उसे न मारे, उसको देवतालोग ब्राह्मण मानते हैं ।। ३३½ ।।

जितेन्द्रियो धर्मपरः स्वाध्यायनिरतः शुचिः ।। ३४ ।।
कामक्रोधौ वशौ यस्य तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।

जो जितेन्द्रिय, धर्मपरायण, स्वाध्यायतत्पर और पवित्र है तथा काम और क्रोध जिसके वशमें है, उसे देवतालोग ब्राह्मण मानते हैं ।। ३४½ ।।

यस्य चात्मसमो लोको धर्मज्ञस्य मनस्विनः ।। ३५ ।।
सर्वधर्मेषु च रतस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।

जिस धर्मज्ञ एवं मनस्वी पुरुषका सम्पूर्ण जगत्‌के प्रति आत्मभाव है तथा सभी धर्मोंपर जिसका समान अनुराग है, उसे देवतालोग ब्राह्मण मानते हैं ।। ३५½ ।।

योऽध्यापयेदधीयीत यजेद् वा याजयीत वा ।। ३६ ।।
दद्याद् वापि यथाशक्ति तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।

जो पढ़े और पढ़ाये, यज्ञ करे और कराये तथा यथाशक्ति दान दे, उसे देवतालोग ब्राह्मण कहते हैं ।।

ब्रह्मचारी वदान्यो योऽधीयीत द्विजपुङ्गवः ।। ३७ ।।
स्वाध्यायवानमत्तो वै तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।

जो द्विजश्रेष्ठ ब्रह्मचर्यका पालन करे, उदार बने, वेदोंका अध्ययन करे और सतत सावधान रहकर स्वाध्यायमें ही लगा रहे, उसे देवतालोग ब्राह्मण मानते हैं ।। ३७½ ।।

यद् ब्राह्मणानां कुशलं तदेषां परिकीर्तयेत् ।। ३८ ।।
सत्यं तथा व्याहरतां नानृते रमते मनः ।

ब्राह्मणके लिये जो हितकर कर्म हो, उसीका उनके सामने वर्णन करना चाहिये। सत्य बोलनेवाले लोगोंका मन कभी असत्यमें नहीं लगता ।। ३८½ ।।

धर्मं तु ब्राह्मणस्याहुः स्वाध्यायं दममार्जवम् ।। ३९ ।।
इन्द्रियाणां निग्रहं च शाश्वतं द्विजसत्तम ।

द्विजश्रेष्ठ! स्वाध्याय, मनोनिग्रह, सरलता और इन्द्रियनिग्रह—ये ब्राह्मणके लिये सनातनधर्म कहे गये हैं ।। ३९½ ।।

सत्यार्जवे धर्ममाहुः परं धर्मविदो जनाः ।। ४० ।।
दुर्ज्ञेयः शाश्वतो धर्मः स च सत्ये प्रतिष्ठितः ।
श्रुतिप्रमाणो धर्मः स्यादिति वृद्धानुशासनम् ।। ४१ ।।

धर्मज्ञ पुरुष सत्य और सरलताको सर्वोत्तम धर्म बताते हैं। सनातनधर्मके स्वरूपको जानना तो अत्यन्त कठिन है, परंतु वह सत्यमें प्रतिष्ठित है। जो वेदोंके द्वारा प्रमाणित हो, वही धर्म है—यह वृद्ध पुरुषोंका उपदेश है ।। ४०-४१ ।।

बहुधा दृश्यते धर्मः सूक्ष्म एव द्विजोत्तम ।
भवानपि च धर्मज्ञः स्वाध्यायनिरतः शुचिः ।। ४२ ।।

द्विजश्रेष्ठ! बहुधा धर्मका स्वरूप सूक्ष्म ही देखा जाता है। तुम भी धर्मज्ञ, स्वाध्यायपरायण और पवित्र हो ।। ४२ ।।

न तु तत्त्वेन भगवन् धर्म वेत्सीति मे मतिः ।
यदि विप्र न जानीषे धर्म परमकं द्विज ।। ४३ ।।
धर्मव्याधं ततः पृच्छ गत्वा तु मिथिलां पुरीम् ।

भगवन्! तो भी मेरा विचार यह है कि तुम्हें धर्मका यथार्थ ज्ञान नहीं है। विप्रवर! यदि तुम परम धर्म क्या है, यह नहीं जानते तो मिथिलापुरीमें धर्मव्याधके पास जाकर पूछो ।। ४३ $\frac{१}{२}$ ।।

मातापितृभ्यां शुश्रूषुः सत्यवादी जितेन्द्रियः ।। ४४ ।।
मिथिलायां वसेद् व्याधः स ते धर्मान् प्रवक्ष्यति ।
तत्र गच्छस्व भद्रं ते यथाकामं द्विजोत्तम ।। ४५ ।।

मिथिलामें एक व्याध रहता है, जो माता-पिताका सेवक, सत्यवादी और जितेन्द्रिय है, वह तुम्हें धर्मका उपदेश करेगा। द्विजश्रेष्ठ! तुम अपनी रुचिके अनुसार वहीं जाओ, तुम्हारा मंगल हो ।। ४४-४५ ।।

अत्युक्तमपि मे सर्वं क्षन्तुमर्हस्यनिन्दित ।
स्त्रियो ह्यवध्याः सर्वेषां ये च धर्मविदो जनाः ।। ४६ ।।

अनिन्दनीय ब्राह्मण! यदि मेरे मुखसे कोई अनुचित बातें निकल गयी हों तो उन सबके लिये मुझे क्षमा करें; क्योंकि जो धर्मज्ञ पुरुष हैं, उन सबकी दृष्टिमें स्त्रियाँ अदण्डनीय हैं ।। ४६ ।।

ब्राह्मण उवाच

प्रीतोऽस्मि तव भद्रं ते गतः क्रोधश्च शोभने ।
उपालम्भस्त्वयात्युक्तो मम निःश्रेयसं परम् ।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि साधयिष्यामि शोभने ।। ४७ ।।
(धन्या त्वमसि कल्याणि यस्यास्ते वृत्तमीदृशम् ।)

ब्राह्मण बोला—शुभे! तुम्हारा भला हो। मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। मेरा सारा क्रोध दूर हो गया। तुमने जो उलाहना दिया है, वह अनुचित वचन नहीं, मेरे लिये परम कल्याणकारी है। शोभने! तुम्हारा कल्याण हो। अब मैं जाऊँगा और अपना कार्यसाधन करूँगा। कल्याणि! तुम धन्य हो, जिसका सदाचार इतनी उच्चकोटिका है ।। ४७ ।।

मार्कण्डेय उवाच

तया विसृष्टो निर्गम्य स्वमेव भवनं ययौ ।
विनिन्दन् स स्वमात्मानं कौशिको द्विजसत्तमः ।। ४८ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! उस साध्वी स्त्रीसे विदा लेकर वह द्विजश्रेष्ठ कौशिक अपने आत्माकी निन्दा करता हुआ अपने घरको लौट गया ।। ४८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि पतिव्रतोपाख्याने षडधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २०६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें पतिव्रतोपाख्यानविषयक दो सौ छठाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २०६ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १½ श्लोक मिलाकर कुल ४८½ श्लोक हैं)

सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः

कौशिकका धर्मव्याधके पास जाना, धर्मव्याधके द्वारा पतिव्रतासे प्रेषित जान लेनेपर कौशिकको आश्चर्य होना, धर्मव्याधके द्वारा वर्णधर्मका वर्णन, जनकराज्यकी प्रशंसा और शिष्टाचारका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

चिन्तयित्वा तदाश्चर्यं स्त्रिया प्रोक्तमशेषतः ।
विनिन्दन् स स्वमात्मानमागस्कृत इवाबभौ ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! उस पतिव्रता देवीकी कही हुई सारी बातोंपर विचार करके कौशिक ब्राह्मणको बड़ा आश्चर्य हुआ। वह अपने-आपको धिक्कारता हुआ अपराधी-सा जान पड़ने लगा ।। १ ।।

चिन्तयानः स्वधर्मस्य सूक्ष्मां गतिमथाब्रवीत् ।
श्रद्दधानेन वै भाव्यं गच्छामि मिथिलामहम् ।। २ ।।

फिर अपने धर्मकी सूक्ष्म गतिपर विचार करके वह मन-ही-मन बोला—'मुझे (उस सतीके कथनपर) श्रद्धा और विश्वास करना चाहिये; अतः मैं अवश्य मिथिला जाऊँगा ।। २ ।।

कृतात्मा धर्मवित् तस्यां व्याधो निवसते किल ।
तं गच्छाम्यहमद्यैव धर्मं प्रष्टुं तपोधनम् ।। ३ ।।

'कहते हैं, वहाँ एक पुण्यात्मा धर्मज्ञ व्याध निवास करता है। मैं उस तपोधन व्याधसे धर्मकी बात पूछनेके लिये आज ही उसके पास जाऊँगा' ।। ३ ।।

इति संचित्य मनसा श्रद्दधानः स्त्रिया वचः ।
बलाकाप्रत्ययेनासौ धर्म्यैश्च वचनैः शुभैः ।। ४ ।।
सम्प्रतस्थे स मिथिलां कौतूहलसमन्वितः ।

मन-ही-मन ऐसा निश्चय करके वह कौतूहलवश मिथिलापुरीकी ओर चल दिया। पतिव्रता स्त्री बगुली पक्षीवाली घटना स्वयं जान गयी थी और उसने धर्मानुकूल शुभ वचनोंद्वारा उपदेश दिया था, इन कारणोंसे उसकी बातोंपर कौशिक ब्राह्मणकी बड़ी श्रद्धा हो गयी थी ।। ४ $\frac{१}{२}$ ।।

अतिक्रामन्तरण्यानि ग्रामांश्च नगराणि च ।। ५ ।।
ततो जगाम मिथिलां जनकेन सुरक्षिताम् ।
धर्मसेतुसमाकीर्णां यज्ञोत्सववतीं शुभाम् ।। ६ ।।

वह अनेकानेक जंगलों, गाँवों तथा नगरोंको पार करता हुआ राजा जनकके द्वारा सुरक्षित, धर्मकी मर्यादासे व्याप्त तथा यज्ञसम्बन्धी उत्सवोंसे सुशोभित सुन्दर मिथिलापुरीमें जा पहुँचा ।। ५-६ ।।

गोपुराट्टालकवतीं हर्म्यप्राकारशोभनाम् ।
प्रविश्य नगरीं रम्यां विमानैर्बहुभिर्युताम् ।। ७ ।।
पण्यैश्च बहुभिर्युक्तां सुविभक्तमहापथाम् ।
अश्वै रथैस्तथा नागैर्योधैश्च बहुभिर्युताम् ।। ८ ।।
हृष्टपुष्टजनाकीर्णां नित्योत्सवसमाकुलाम् ।
सोऽपश्यद् बहुवृत्तान्तां ब्राह्मणः समतिक्रमन् ।। ९ ।।

बहुत-से गोपुर, अट्टालिकाएँ, महल और चहारदीवारियाँ उस नगरकी शोभा बढ़ा रही थीं। वह रमणीय पुरी बहुत-से विमानोंसे युक्त थी तथा बहुत-सी दुकानें उस पुरीका सौन्दर्य बढ़ाती थीं। सुन्दर ढंगसे बनायी हुई बड़ी-बड़ी सड़कें शोभा पा रही थीं। बहुसंख्यक घोड़े, रथ, हाथी और सैनिकोंसे संयुक्त मिथिलापुरी हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरी हुई थी। वहाँ नित्य नाना प्रकारके उत्सव होते रहते थे और अनेक प्रकारकी घटनाएँ घटित होती थीं। ब्राह्मणने उस पुरीमें प्रवेश करके सब ओर घूम-घामकर उसे अच्छी तरह देखा ।।

धर्मव्याधमपृच्छच्च स चास्य कथितो द्विजैः ।
अपश्यत् तत्र गत्वा तं सूनामध्ये व्यवस्थितम् ।। १० ।।
मार्गमाहिषमांसानि विक्रीणन्तं तपस्विनम् ।
आकुलत्वाच्च क्रेतृणामेकान्ते संस्थितो द्विजः ।। ११ ।।

वहाँ उसने लोगोंसे धर्मव्याधका पता पूछा और ब्राह्मणोंने उसे उसका स्थान बता दिया। कौशिकने वहाँ जाकर देखा कि तपस्वी धर्मव्याध कसाईखानेमें बैठकर सूअर, भैंसे आदि पशुओंका मांस बेच रहा है। वहाँ ग्राहकोंकी भीड़ लगी हुई थी, इसलिये कौशिक एकान्तमें जाकर खड़ा हो गया ।। १०-११ ।।

स तु ज्ञात्वा द्विजं प्राप्तं सहसा सम्भ्रमोत्थितः ।
आजगाम यतो विप्रः स्थित एकान्तदर्शने ।। १२ ।।

ब्राह्मणको आया हुआ जानकर व्याध सहसा शीघ्रतापूर्वक उठ खड़ा हुआ और उस स्थानपर आ गया जहाँ ब्राह्मण एकान्त स्थानमें खड़ा था ।। १२ ।।

व्याध उवाच

अभिवादये त्वां भगवन् स्वागतं ते द्विजोत्तम ।
अहं व्याधो हि भद्रं ते किं करोमि प्रशाधि माम् ।। १३ ।।

व्याध बोला—भगवन्! मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ। द्विजश्रेष्ठ! आपका स्वागत है। मैं ही वह व्याध हूँ (जिसकी खोजमें आपने यहाँतक आनेका कष्ट किया है)।

आपका भला हो, आज्ञा दीजिये, मैं क्या सेवा करूँ? ।। १३ ।।

एकपत्न्या यदुक्तोऽसि गच्छ त्वं मिथिलामिति ।
जानाम्येतदहं सर्वं यदर्थं त्वमिहागतः ।। १४ ।।

उस पतिव्रता देवीने जो आपसे यह कहकर भेजा है कि 'तुम मिथिलापुरीको जाओ।' वह सब मैं जानता हूँ। आप जिस उद्देश्यसे यहाँ पधारे हैं, वह भी मुझे मालूम है ।। १४ ।।

श्रुत्वा च तस्य तद् वाक्यं स विप्रो भृशविस्मितः ।
द्वितीयमिदमाश्चर्यमित्यचिन्तयत द्विजिः ।। १५ ।।

व्याधकी वह बात सुनकर ब्राह्मणको बड़ा विस्मय हुआ। वह मन-ही-मन सोचने लगा —'यह दूसरा आश्चर्य दृष्टिगोचर हुआ है' ।। १५ ।।

अदेशस्थं हि ते स्थानमिति व्याधोऽब्रवीदिदम् ।
गृहं गच्छाव भगवन् यदि ते रोचतेऽनघ ।। १६ ।।

इसके बाद व्याधने कहा—'भगवन्! यह स्थान आपके ठहरनेयोग्य नहीं है। अनघ! यदि आपकी रुचि हो तो हम दोनों हमारे घरपर चलें' ।। १६ ।।

मार्कण्डेय उवाच

बाढमित्येव तं विप्रो हृष्टो वचनमब्रवीत् ।
अग्रतस्तु द्विजं कृत्वा स जगाम गृहं प्रति ।। १७ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! यह सुनकर ब्राह्मणको बड़ा हर्ष हुआ। उसने व्याधसे कहा—'बहुत अच्छा, ऐसा ही करो।' तब व्याध ब्राह्मणको आगे करके घरकी ओर चला ।। १७ ।।

प्रविश्य च गृहं रम्यमासनेनाभिपूजितः ।
अर्घ्येण च स वै तेन व्याधेन द्विजसत्तमः ।। १८ ।।

व्याधका घर बहुत सुन्दर था। वहाँ पहुँचकर उस व्याधने ब्राह्मणको बैठनेके लिये आसन दिया और अर्घ्य देकर उस श्रेष्ठ ब्राह्मणकी आदरसहित पूजा की ।। १८ ।।

ततः सुखोपविष्टस्तं व्याधं वचनमब्रवीत् ।
कर्मैतद् वै न सदृशं भवतः प्रतिभाति मे ।
अनुतप्ये भृशं तात तव घोरेण कर्मणा ।। १९ ।।

सुखपूर्वक बैठ जानेपर ब्राह्मणने व्याधसे कहा—'तात! यह मांस बेचनेका काम निश्चय ही तुम्हारे योग्य नहीं है। मुझे तो तुम्हारे इस घोर कर्मसे बहुत संताप हो रहा है' ।। १९ ।।

व्याध उवाच

कुलोचितमिदं कर्म पितृपैतामहं परम् ।
वर्तमानस्य मे धर्मे स्वे मन्युं मा कृथा द्विज ।। २० ।।

व्याध बोला—ब्रह्मन्! यह काम मेरे बाप-दादोंके समयसे होता चला आ रहा है। मेरे कुलके लिये जो उचित है वही धंधा मैंने भी अपनाया है। मैं अपने धर्मका ही पालन कर रहा हूँ; अतः आप मुझपर क्रोध न करें ।। २० ।।

विधात्रा विहितं पूर्वं कर्म स्वमनुपालयन् ।
प्रयत्नाच्च गुरू वृद्धौ शुश्रूषेऽहं द्विजोत्तम ।। २१ ।।

द्विजश्रेष्ठ! विधाताने इस कुलमें जन्म देकर मेरे लिये जो कार्य प्रस्तुत किया है, उसका पालन करता हुआ मैं अपने बूढ़े माता-पिताकी बड़े यत्नसे सेवा करता रहता हूँ ।। २१ ।।

सत्यं वदे नाभ्यसूये यथाशक्ति ददामि च ।
देवतातिथिभृत्यानामवशिष्टेन वर्तये ।। २२ ।।

सत्य बोलता हूँ। किसीकी निन्दा नहीं करता और अपनी शक्तिके अनुसार दान भी करता हूँ। देवताओं, अतिथियों और भरण-पोषणके योग्य कुटुम्बीजनों तथा सेवकोंको भोजन देकर जो बचता है उसीसे शरीरका निर्वाह करता हूँ ।। २२ ।।

न कुत्सयाम्यहं किंचिन्न गर्हे बलवत्तरम् ।
कृतमन्वेति कर्तारं पुरा कर्म द्विजोत्तम ।। २३ ।।

द्विजश्रेष्ठ! किसीके दोषोंकी चर्चा नहीं करता और अपनेसे बलिष्ठ पुरुषकी निन्दा नहीं करता, क्योंकि पहलेके किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका परिणाम स्वयं कर्ताको ही भोगना पड़ता है ।। २३ ।।

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यमिह लोकस्य जीवनम् ।
दण्डनीतिस्त्रयी विद्या तेन लोको भवत्युत ।। २४ ।।

कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य, दण्डनीति और त्रयीविद्या—ऋक्, यजु, सामके अनुसार यज्ञादिका अनुष्ठान करना और कराना ये लोगोंकी जीविकाके साधन हैं। इनसे ही लौकिक और पारलौकिक उन्नति सम्भव होती है ।। २४ ।।

कर्म शूद्रे कृषिर्वैश्ये संग्रामः क्षत्रिये स्मृतः ।
ब्रह्मचर्यं तपो मन्त्राः सत्यं च ब्राह्मणे सदा ।। २५ ।।

शूद्रका कर्तव्य है सेवा-कर्म, वैश्यका कार्य है खेती और युद्ध करना क्षत्रियका कर्म माना गया है। ब्रह्मचर्य, तपस्या, मन्त्र-जप, वेदाध्ययन तथा सत्यभाषण—ये सदा ब्राह्मणके पालन करनेयोग्य धर्म हैं ।। २५ ।।

राजा प्रशास्ति धर्मेण स्वकर्मनिरताः प्रजाः ।
विकर्माणश्च ये केचित् तान् युनक्ति स्वकर्मसु ।। २६ ।।

राजा अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्ममें लगी हुई प्रजाका धर्मपूर्वक शासन करता है और जो कोई अपने कर्मोंसे गिरकर विपरीत दिशामें जा रहे हों उन्हें पुनः अपने कर्तव्यके पालनमें लगाता है ।। २६ ।।

भेतव्यं हि सदा राज्ञः प्रजानामधिपा हि ते ।
वारयन्ति विकर्मस्थं तृपा मृगमिवेषुभिः ।। २७ ।।

इसलिये राजाओंसे सदा डरते रहना चाहिये; क्योंकि वे प्रजाके स्वामी हैं। जो लोग धर्मके विपरीत कार्य करते हैं, उन्हें राजा दण्डद्वारा उसी प्रकार पापसे रोकते हैं, जैसे बाणोंद्वारा वे हिंसक पशुओंको हिंसासे रोकते हैं ।।

जनकस्येह विप्रर्षे विकर्मस्थो न विद्यते ।
स्वकर्मनिरता वर्णाश्चत्वारोऽपि द्विजोत्तम ।। २८ ।।

ब्रह्मर्षे! यह राजा जनकका नगर है, यहाँ कोई भी ऐसा नहीं है जो वर्ण-धर्मके विरुद्ध आचरण करे। द्विजश्रेष्ठ! यहाँ चारों वर्णोंके लोग अपना-अपना कर्म करते हैं ।। २८ ।।

स एष जनको राजा दुर्वृत्तमपि चेत् सुतम् ।
दण्ड्यं दण्डे निक्षिपति तथा न ग्लाति धार्मिकम् ।। २९ ।।

ये राजा जनक दुराचारीको, वह अपना पुत्र ही क्यों न हो, दण्डनीय मानकर दण्ड देते ही हैं तथा किसी भी धर्मात्माको कष्ट नहीं पहुँचने देते हैं ।। २९ ।।

सुयुक्तचारो नृपतिः सर्वं धर्मेण पश्यति ।
श्रीश्च राज्यं च दण्डश्च क्षत्रियाणां द्विजोत्तम ।। ३० ।।

विप्रवर! राजा जनकने सब ओर गुप्तचर लगा रखे हैं, अतः उनके द्वारा वे धर्मानुसार सबपर दृष्टि रखते हैं। सम्पत्तिका उपार्जन, राज्यकी रक्षा तथा अपराधियोंको दण्ड देना—ये क्षत्रियोंके कर्तव्य हैं ।। ३० ।।

राजानो हि स्वधर्मेण श्रियमिच्छन्ति भूयसीम् ।
सर्वेषामेव वर्णानां त्राता राजा भवत्युत ।। ३१ ।।

राजालोग अपने धर्मका पालन करते हुए ही प्रचुर सम्पत्ति पानेकी इच्छा रखते हैं और राजा सभी वर्णोंका रक्षक होता है ।। ३१ ।।

परेण हि हतान् ब्रह्मन् वराहमहिषानहम् ।
न स्वयं हन्मि विप्रर्षे विक्रीणामि सदा त्वहम् ।। ३२ ।।

ब्रह्मन्! मैं स्वयं किसी जीवकी हिंसा नहीं करता। सदा दूसरोंके मारे हुए सूअर और भैसोंका मांस बेचता हूँ ।। ३२ ।।

न भक्षयामि मांसानि ऋतुगामी तथा ह्यहम् ।
सदोपवासी च तथा नक्तभोजी सदा द्विज ।। ३३ ।।

मैं स्वयं मांस कभी नहीं खाता। ऋतुकाल प्राप्त होनेपर ही पत्नी-समागम करता हूँ। द्विजप्रवर। मैं दिनमें सदा ही उपवास और रातमें भोजन करता हूँ ।। ३३ ।।

अशीलश्चापि पुरुषो भूत्वा भवति शीलवान् ।
प्राणिहिंसारतश्चापि भवते धार्मिकः पुनः ।। ३४ ।।

शीलसे रहित पुरुष भी कभी शीलवान् हो जाता है। प्राणियोंकी हिंसामें अनुरक्त मनुष्य भी फिर धर्मात्मा हो जाता है ।। ३४ ।।

व्यभिचारान्नरेन्द्राणां धर्मः संकीर्यते महान् ।
अधर्मो वर्धते चापि संकीर्यन्ते ततः प्रजाः ।। ३५ ।।

राजाओंके व्यभिचार-दोषसे धर्म अत्यन्त संकीर्ण हो जाता है और अधर्म बढ़ जाता है, इससे प्रजामें वर्णसंकरता आ जाती है ।। ३५ ।।

भेरुण्डा वामनाः कुब्जाः स्थूलशीर्षास्तथैव च ।
क्लीबाश्चान्धाश्च बधिरा जायन्तेऽत्युच्चलोचनाः ।। ३६ ।।

उस दशामें भयंकर आकृतिवाले, बौने, कुबड़े, मोटे मस्तकवाले, नपुंसक, अंधे, बहरे और अधिक ऊँचे नेत्रोंवाले मनुष्य उत्पन्न होते हैं ।। ३६ ।।

पार्थिवानामधर्मत्वात् प्रजानामभवः सदा ।
स एष राजा जनकः प्रजा धर्मेण पश्यति ।। ३७ ।।

राजाओंके अधर्मपरायण होनेसे प्रजाकी सदा अवनति होती है। हमारे ये राजा जनक समस्त प्रजाको धर्मपूर्ण दृष्टिसे ही देखते हैं ।। ३७ ।।

अनुगृह्णत् प्रजाः सर्वा स्वधर्मनिरताः सदा ।
(पात्येव राजा जनकः पितृवज्जनसत्तम ।)
ये चैव मां प्रशंसन्ति ये च निन्दन्ति मानवाः ।। ३८ ।।
सर्वान् सुपरिणीतेन कर्मणा तोषयाम्यहम् ।

नरश्रेष्ठ! राजा जनक सदा स्वधर्ममें तत्पर रहनेवाली सम्पूर्ण प्रजापर अनुग्रह रखते हुए उसका पिताकी भाँति सदा पालन करते हैं। जो लोग मेरी प्रशंसा करते हैं और जो निन्दा करते हैं, उन सबको अपने सद्व्यवहारसे संतुष्ट रखता हूँ ।। ३८ ।।

ये जीवन्ति स्वधर्मेण संयुञ्जन्ति च पार्थिवाः ।। ३९ ।।
न किंचिदुपजीवन्ति दान्ता उत्थानशीलिनः ।

जो राजा अपने धर्मका पालन करते हुए जीवन-निर्वाह करते हैं, धर्ममें ही संयुक्त रहते हैं, किसी दूसरेकी कोई वस्तु अपने उपयोगमें नहीं लाते तथा सदा अपनी इन्द्रियोंपर संयम रखते हैं, वे ही उन्नतिशील होते हैं ।। ३९ $\frac{१}{२}$ ।।

शक्त्यान्नदानं सततं तितिक्षा धर्मनित्यता ।। ४० ।।
यथार्हं प्रति पूजा च सर्वभूतेषु वै सदा ।
त्यागान्नान्यत्र मर्त्यानां गणास्तिष्ठन्ति पूरुषे ।। ४१ ।।

अपनी शक्तिके अनुसार सदा दूसरोंको अन्न देना, दूसरोंके अपराध तथा शीत-उष्ण आदि द्वन्दोंको सहन करना, सदा धर्ममें दृढ़तापूर्वक लगे रहना तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें सभी पूजनीय पुरुषोंका यथायोग्य पूजन करना—ये मनुष्योंके सद्गुण पुरुषमें स्वार्थत्यागके बिना नहीं रह पाते हैं ।। ४०-४१ ।।

मृषा वादं परिहरेत् कुर्यात् प्रियमयाचितः ।
न च कामान्न संरम्भान्न द्वेषाद् धर्ममुत्सृजेत् ।। ४२ ।।

झूठ बोलना छोड़ दे, बिना कहे ही दूसरोंका प्रिय करे, काम, क्रोध तथा द्वेषसे भी कभी धर्मका परित्याग न करे ।। ४२ ।।

प्रिये नातिभृशं हृष्येदप्रिये न च संज्वरेत् ।
न मुह्येदर्थकृच्छ्रेषु न च धर्मं परित्यजेत् ।। ४३ ।।

प्रिय वस्तुकी प्राप्ति होनेपर हर्षसे फूल न उठे, अपने मनके विपरीत कोई बात हो जाय तो दुःख न माने—चिन्तित न हो, अर्थसंकट आ जाय तो भी मोहके वशीभूत हो घबराये नहीं और किसीभी अवस्थामें अपना धर्म न छोड़े ।। ४३ ।।

कर्म चेत्किंचिदन्यत् स्यादितरन्न तदाचरेत् ।
यत् कल्याणमभिध्यायेत् तत्रात्मानं नियोजयेत् ।। ४४ ।।

यदि भूलसे कभी कोई निन्दित कर्म बन जाय तो फिर दुबारा वैसा काम न करे। अपने मन और बुद्धिसे विचार करनेपर जो कल्याणकारी प्रतीत हो, उसी कार्यमें अपनेको लगावे ।। ४४ ।।

न पापे प्रतिपापः स्यात् साधुरेव सदा भवेत् ।
आत्मनैव हतः पापो यः पापं कर्तुमिच्छति ।। ४५ ।।

यदि कोई अपने साथ बुरा बर्ताव करे तो स्वयं भी बदलेमें उसके साथ बुराई न करे। सबके साथ सदा सद्व्यवहार ही करे। जो पापी दूसरोंका अहित करना चाहता है वह स्वयं

ही नष्ट हो जाता है ।। ४५ ।।

कर्म चैतदसाधूनां वृजिनानामसाधुवत् ।
न धर्मोऽस्तीति मन्वानाः शुचीनवहसन्ति ये ।। ४६ ।।
अश्रद्दधाना धर्मस्य ते नश्यन्ति न संशयः ।
महादृतिरिवाध्मातः पापो भवति नित्यदा ।। ४७ ।।

यह (दूसरोंका अहित करना) तो दुराचारीकी भाँति दुर्व्यसनोंमें आसक्त हुए पापी पुरुषोंका ही कार्य है। 'धर्म कोई चीज नहीं है' ऐसा मानकर जो शुद्ध आचार-विचारवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी हँसी उड़ाते हैं, वे धर्मपर अश्रद्धा रखनेवाले मनुष्य निश्चय ही नष्ट हो जाते हैं। पापी मनुष्य लुहारकी बड़ी धौंकनीके समान सदा ऊपरसे फूले दिखायी देते हैं (परंतु वास्तवमें सारहीन होते हैं) ।। ४६-४७ ।।

(साधुः सन्नतिमानेव सर्वत्र द्विजसत्तम ।)
मूढानामवलिप्तानामसारं भावितं भवेत् ।
दर्शयत्यन्तरात्मा तं दिवा रूपमिवांशुमान् ।। ४८ ।।

द्विजश्रेष्ठ! उत्तम पुरुष सर्वत्र विनयशील ही होता है। अहंकारी मूढ़ मनुष्योंकी सोची हुई प्रत्येक बात निःसार होती है। जैसे सूर्य दिनके रूपको प्रकट कर देता है, उसी प्रकार मूर्खोंकी अन्तरात्मा ही उनके यथार्थ स्वरूपका दर्शन करा देती है ।। ४८ ।।

न लोके राजते मूर्खः केवलात्मप्रशंसया ।
अपि चेह श्रिया हीनः कृतविद्यः प्रकाशते ।। ४९ ।।

मूर्ख मनुष्य केवल अपनी प्रशंसाके बलसे जगत्-में प्रतिष्ठा नहीं पाता है, विद्वान् पुरुष कान्तिहीन हो तो भी संसारमें उसकी ख्याति बढ़ जाती है ।। ४९ ।।

अब्रुवन् कस्यचिन्निन्दामात्मपूजामवर्णयन् ।
न कश्चिद् गुणसम्पन्नः प्रकाशो भुवि दृश्यते ।। ५० ।।

किसी दूसरेकी निन्दा न करे, अपनी मान-प्रतिष्ठाकी प्रशंसा न करे, कोई भी गुणवान् पुरुष पर निन्दा और आत्मप्रशंसाका त्याग किये बिना इस भूमण्डलमें सम्मानित हुआ हो, यह नहीं देखा जाता है ।। ५० ।।

विकर्मणा तप्यमानः पापाद् विपरिमुच्यते ।
न तत् कुर्यां पुनरिति द्वितीयात् परिमुच्यते ।। ५१ ।।

जो मनुष्य पापकर्म बन जानेपर सच्चे हृदयसे पश्चात्ताप करता है, वह उस पापसे छूट जाता है तथा 'फिर कभी ऐसा कर्म नहीं करूँगा' ऐसा दृढ़ निश्चय कर लेनेपर वह भविष्यमें होनेवाले दूसरे पापसे भी बच जाता है ।। ५१ ।।

कर्मणा येन तेनेह पापाद् द्विजवरोत्तम ।
एवं श्रुतिरियं ब्रह्मन् धर्मेषु प्रतिदृश्यते ।। ५२ ।।

विप्रवर! शास्त्रविहित (जप, तप, यज्ञ, दान आदि) किसी भी कर्मका निष्कामभावसे आचरण करनेपर पापसे छुटकारा मिल सकता है। ब्रह्मन्! धर्मके विषयमें ऐसी श्रुति देखी जाती है ।। ५२ ।।

पापान्यबुद्ध्वेह पुरा कृतानि
प्राग् धर्मशीलोऽपि विहन्ति पश्चात् ।
धर्मो राजन् नुदते पूरुषाणां
यत् कुर्वते पापमिह प्रमादात् ।। ५३ ।।

पहलेका धर्मशील पुरुष भी यदि अनजानमें यहाँ कोई पाप कर बैठे तो वह पीछे (निष्काम पुण्यकर्मद्वारा) उस पापको नष्ट कर देता है। राजन्! मनुष्योंका धर्म ही यहाँ प्रमादवश किये हुए उनके पापोंको दूर कर देता है ।। ५३ ।।

पापं कृत्वा हि मन्येत नाहमस्मीति पूरुषः ।
तं तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः ।। ५४ ।।

जो मनुष्य पाप करके भी यह मानता है कि 'मैं पापी नहीं हूँ।' वह भूल करता है; क्योंकि देवता उसे और उसके पापको देखते हैं तथा उसीके भीतर बैठा हुआ परमात्मा भी देखता ही है ।। ५४ ।।

चिकीर्षेदेव कल्याणं श्रद्दधानोऽनसूयकः ।
वसनस्येव छिद्राणि साधूनां विवृणोति यः ।। ५५ ।।
(अपश्यन्नात्मनो दोषान् स पापः प्रेत्य नश्यति ।।)

श्रद्धालु मनुष्य दूसरोंके दोष देखना छोड़कर सदा सबके हितकी ही इच्छा करे। जो पापी अपने दोषोंकी ओरसे आँखें बंद करके सदा दूसरे श्रेष्ठ पुरुषोंके दोषोंको ही कपड़ेके छेदोंकी भाँति अधिकाधिक प्रकट करता और बढ़ाता है, वह मृत्युके पश्चात् नष्ट हो जाता है —परलोकमें उसे कोई सुख नहीं मिलता है ।। ५५ ।।

पापं चेत् पुरुषः कृत्वा कल्याणमभिपद्यते ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो महाभ्रेणेव चन्द्रमाः ।। ५६ ।।

यदि मनुष्य पाप करके भी कल्याणकारी कर्ममें लग जाता है, तो वह महामेघसे मुत्ह हुए चन्द्रमाकी भाँति सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ।। ५६ ।।

यथाऽऽदित्यः समुद्यन् वै तमः पूर्वं व्यपोहति ।
एवं कल्याणमातिष्ठन् सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। ५७ ।।

जैसे सूर्य उदय होनेपर पहलेके अन्धकारको नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार कल्याणकारी शुभ कर्मका निष्कामभावसे अनुष्ठान करनेवाला पुरुष सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है ।। ५७ ।।

पापानां विद्धयधिष्ठानं लोभमेव द्विजोत्तम ।
लुब्धाः पापं व्यवस्यन्ति नरा नातिबहुश्रुताः ।। ५८ ।।

विप्रवर! लोभको ही पापोंका घर समझो। जिन्होंने अधिकतर शास्त्रोंका श्रवण नहीं किया है, वे लोभी मनुष्य ही पाप करनेका विचार रखते हैं ।। ५८ ।।

अधर्मा धर्मरूपेण तृणैः कूपा इवावृताः ।
तेषां दमः पवित्राणि प्रलापा धर्मसंश्रिताः ।
सर्वं हि विद्यते तेषु शिष्टाचारः सुदुर्लभः ।। ५९ ।।

तिनकेसे ढके हुए कुओंकी भाँति धर्मकी आड़में कितने ही अधर्म चल रहे हैं। धर्मात्माके वेशमें रहनेवाले इन अधार्मिक मनुष्योंमें इन्द्रिय-संयम, पवित्रता और धर्मसम्बन्धी चर्चा आदि सभी गुण तो होते हैं, परंतु उनमें शिष्टाचार (श्रेष्ठ पुरुषोंका-सा आचार-व्यवहार) अत्यन्त दुर्लभ है ।। ५९ ।।

मार्कण्डेय उवाच

स तु विप्रो महाप्राज्ञो धर्मव्याधमपृच्छत ।
शिष्टाचारं कथमहं विद्यामिति नरोत्तम ।। ६० ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर परम बुद्धिमान् कौशिकने धर्मव्याधसे पूछा—'नरश्रेष्ठ! मुझे शिष्टाचारका ज्ञान कैसे हो? ।। ६० ।।

एतदिच्छामि भद्रं ते श्रोतुं धर्मभृतां वर ।
त्वत्तो महामते व्याध तद् ब्रवीहि यथातथम् ।। ६१ ।।

'धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महामते व्याध! तुम्हारा भला हो, मैं ये सब बातें तुमसे सुनना चाहता हूँ। अतः यथार्थ रूपसे इनका वर्णन करो' ।। ६१ ।।

व्याध उवाच

यज्ञो दानं तपो वेदाः सत्यं च द्विजसत्तम ।
पञ्चैतानि पवित्राणि शिष्टाचारेषु सर्वदा ।। ६२ ।।

व्याधने कहा—द्विजश्रेष्ठ! यज्ञ, दान, तपस्या, वेदोंका स्वाध्याय और सत्यभाषण—ये पाँच पवित्र वस्तुएँ शिष्ट पुरुषोंके आचार-व्यवहारमें सदा देखी गयी हैं ।। ६२ ।।

कामक्रोधौ वशे कृत्वा दम्भं लोभमनार्जवम् ।
धर्ममित्येव संतुष्टास्ते शिष्टाः शिष्टसम्मताः ।। ६३ ।।

जो काम, क्रोध, लोभ, दम्भ और कुटिलताको वशमें करके केवल धर्मको ही अपनाकर संतुष्ट रहते हैं, वे शिष्ट कहलाते हैं और उन्हींका शिष्ट पुरुष आदर करते हैं ।। ६३ ।।

न तेषां विद्यतेऽवृत्तं यज्ञस्वाध्यायशीलिनाम् ।
आचारपालनं चैव द्वितीयं शिष्टलक्षणम् ।। ६४ ।।

वे निरन्तर यज्ञ और स्वाध्यायमें लगे रहते हैं। उनमें स्वेच्छाचार नहीं होता। सदाचारका पालन शिष्ट पुरुषोंका दूसरा लक्षण है ।। ६४ ।।

गुरुशुश्रूषणं सत्यमक्रोधो दानमेव च ।

एतच्चतुष्टयं ब्रह्मन् शिष्टाचारेषु नित्यदा ।। ६५ ।।

ब्रह्मन्! शिष्टाचारी पुरुषोंमें गुरुकी सेवा, सत्य-भाषण, क्रोधका अभाव तथा दान—ये चार सद्गुण सदा रहते हैं ।। ६५ ।।

शिष्टाचारे मनः कृत्वा प्रतिष्ठाप्य च सर्वशः ।
यामयं लभते वृत्तिं सा न शक्या ह्यतोऽन्यथा ।। ६६ ।।

मनुष्य शिष्ट पुरुषोंके उपर्युक्त आचारमें मनको सब प्रकारसे स्थापित करके जिस उत्तम स्थितिको प्राप्त करता है उसकी उपलब्धि और किसी प्रकारसे नहीं हो सकती ।। ६६ ।।

वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः ।
दमस्योपनिषत् त्यागः शिष्टाचारेषु नित्यदा ।। ६७ ।।

वेदका सार है सत्य, सत्यका सार है इन्द्रिय-संयम और इन्द्रिय-सयंमका सार है त्याग। यह त्याग शिष्ट पुरुषोंके आचारमें सदा विद्यमान रहता है ।। ६७ ।।

ये तु धर्मानसूयन्ते बुद्धिमोहान्विता नराः ।
अपथा गच्छतां तेषामनुयाता च पीड्यते ।। ६८ ।।

जो मनुष्य बुद्धिमोहसे युक्त होकर धर्ममें दोष देखते हैं वे स्वयं तो कुमार्गगामी होते ही हैं, उनके पीछे चलनेवाला मनुष्य भी कष्ट पाता है ।। ६८ ।।

ये तु शिष्टाः सुनियताः श्रुतित्यागपरायणाः ।
धर्मपन्थानमारूढाः सत्यधर्मपरायणाः ।। ६९ ।।

जो शिष्ट हैं वे सदा ही नियमित जीवन व्यतीत करते हैं, वेदोंके स्वाध्यायमें तत्पर और त्यागी होते हैं। धर्मके मार्गपर ही चलते हैं और सत्यधर्मको ही अपना परम आश्रय मानते हैं ।। ६९ ।।

नियच्छन्ति परां बुद्धिं शिष्टाचारान्विता जनाः ।
उपाध्यायमते युक्ताः स्थित्या धर्मार्थदर्शिनः ।। ७० ।।

शिष्टाचारपरायण मनुष्य अपनी उत्तम बुद्धिको भी संयममें रखते हैं, गुरुके सिद्धान्तके अनुसार चलते हैं और मर्यादामें स्थित होकर धर्म और अर्थपर दृष्टि रखते हैं ।।

नास्तिकान् भिन्नमर्यादान् क्रूरान् पापमतौ स्थितान् ।
त्यज तान् ज्ञानमाश्रित्य धार्मिकानुपसेव्य च ।। ७१ ।।

इसलिये तुम नास्तिक, धर्मकी मर्यादा भंग करनेवाले, क्रूर तथा पापपूर्ण विचार रखनेवाले पुरुषोंका साथ छोड़ दो और ज्ञानका आश्रय लेकर धर्मात्मा पुरुषोंकी सेवामें रहो ।। ७१ ।।

कामलोभग्रहाकीर्णां पञ्चेन्द्रियजलां नदीम् ।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि संतर ।। ७२ ।।

यह शरीर एक नदी है। पाँच इन्द्रियाँ इसमें जल हैं। काम और लोभरूपी मगर इसके भीतर भरे पड़े हैं। जन्म और मृत्युके दुर्गम प्रदेशमें यह नदी बह रही है। तुम धैर्यकी नावपर

बैठो और इसके दुर्गम स्थानों—जन्म आदि क्लेशोंको पार कर जाओ ।। ७२ ।।

क्रमेण संचितो धर्मो बुद्धियोगमयो महान् ।
शिष्टाचारे भवेत् साधू रागः शूक्लेव वाससि ।। ७३ ।।

जैसे कोई भी रंग सफेद कपड़ेपर ही अच्छी तरह खिलता है, उसी प्रकार शिष्टाचारका पालन करनेवाले पुरुषमें ही क्रमशः संचित किया हुआ बुद्धियोगमय महान् धर्म भलीभाँति प्रकाशित होता है ।। ७३ ।।

अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतहितं परम् ।
अहिंसा परमो धर्मः स च सत्ये प्रतिष्ठितः ।
सत्ये कृत्वा प्रतिष्ठां तु प्रवर्तन्ते प्रवृत्तयः ।। ७४ ।।

अहिंसा और सत्यभाषण—ये समस्त प्राणियोंके लिये अत्यन्त हितकर हैं। अहिंसा सबसे महान् धर्म है, परंतु वह सत्यमें ही प्रतिष्ठित है। सत्यके ही आधारपर श्रेष्ठ पुरुषोंके सभी कार्य आरम्भ होते हैं ।। ७४ ।।

सत्यमेव गरीयस्तु शिष्टाचारनिषेवितम् ।
आचारश्च सतां धर्मः संतश्चाचारलक्षणाः ।। ७५ ।।

अतः शिष्ट पुरुषोंके आचारमें गृहीत सत्य ही सबसे अधिक गौरवकी वस्तु है। सदाचार ही श्रेष्ठ पुरुषोंका धर्म है। सदाचारसे ही संतोंकी पहचान होती है ।। ७५ ।।

यो यथाप्रकृतिर्जन्तुः स स्वां प्रकृतिमश्नुते ।
पापात्मा क्रोधकामादीन् दोषानाप्नोत्यनात्मवान् ।। ७६ ।।

जिस जीवकी जैसी प्रकृति होती है, वह अपनी प्रकृतिका ही अनुसरण करता है। अपने मनको वशमें न रखनेवाला पापात्मा पुरुष ही काम, क्रोध आदि दोषोंको प्राप्त होता है ।। ७६ ।।

आरम्भोन्याययुक्तो यः स हि धर्म इति स्मृतः ।
अनाचारस्त्वधर्मेति एतच्छिष्टानुशासनम् ।। ७७ ।।

'जो आरम्भ न्याययुक्त हो, वही धर्म कहा गया है। इसके विपरीत जो अनाचार है, वह अधर्म है'—ऐसा शिष्ट पुरुषोंका कथन है ।। ७७ ।।

अक्रुद्धयन्तोऽनसूयन्तो निरहङ्कारमत्सराः ।
ऋजवः शमसम्पनाः शिष्टाचारा भवन्ति ते ।। ७८ ।।

जिनमें क्रोधका अभाव है, जो दूसरोंके दोष नहीं देखते, जिनमें अहंकार और ईर्ष्याका अभाव है, जो सरल तथा मनोनिग्रहसे सम्पन्न हैं, वे शिष्टाचारी कहलाते हैं ।। ७८ ।।

त्रैविद्यवृद्धाः शुचयो वृत्तवन्तो मनस्विनः ।
गुरुशुश्रूषवो दान्ताः शिष्टाचारा भवन्त्युत ।। ७९ ।।

'जो तीनों वेदोंके विद्वानोंमें श्रेष्ठ, पवित्र, सदाचारी, मनस्वी, गुरुसेवक और जितेन्द्रिय हैं, वे शिष्टाचारी कहे जाते हैं ।। ७९ ।।

तेषामहीनसत्त्वानां दुष्कराचारकर्मणाम् ।
स्वैः कर्मभिः सत्कृतानां घोरत्वं सम्प्रणश्यति ।। ८० ।।

जो सत्त्वगुणसे सम्पन्न हैं, जिनके आचार और कर्म पापियोंके लिये कठिन हैं तथा जो संसारमें अपने सत्कर्मोंके द्वारा सत्कृत हैं, उनके हिंसा आदि दोष स्वतः नष्ट हो जाते हैं ।। ८० ।।

तं सदाचारमाश्चर्यं पुराणं शाश्वतं ध्रुवम् ।
धर्मं धर्मेण पश्यन्तः स्वर्ग यान्ति मनीषिणः ।। ८१ ।।

जिसका श्रेष्ठ पुरुषोंने पालन किया है, जो अनादि, सनातन और नित्य है, उस धर्मको धर्मदृष्टिसे ही देखनेवाले मनीषी पुरुष स्वर्गलोकमें जाते हैं ।। ८१ ।।

आस्तिका मानहीनाश्च द्विजातिजनपूजकाः ।
श्रुतवृत्तोपसम्पन्नाः सन्तः स्वर्गनिवासिनः ।। ८२ ।।

जो आस्तिक, अहंकारशून्य, ब्राह्मणोंका समादर करनेवाले, विद्वान् और सदाचारसे सम्पन्न हैं, वे श्रेष्ठ पुरुष स्वर्गमें निवास करते हैं ।। ८२ ।।

वेदोक्तः परमो धर्मो धर्मशास्त्रेषु चापरः ।
शिष्टाचारश्च शिष्टानां त्रिविधं धर्मलक्षणम् ।

जिसका वेदोंमें वर्णन है, वह धर्मका पहला लक्षण है। धर्मशास्त्रोंमें जिसका प्रतिपादन किया गया है, वह धर्मका दूसरा लक्षण है और शिष्टाचार धर्मका तीसरा लक्षण है। इस प्रकार शिष्ट पुरुषोंने धर्मके तीन लक्षण स्वीकार किये हैं ।। ८२$\frac{१}{२}$ ।।

धारणं चापि विद्यानां तीर्थानामवगाहनम् ।। ८३ ।।
क्षमा सत्यार्जवं शौचं सतामाचारदर्शनम् ।

सब विद्याओंका अध्ययन, सब तीर्थोंमें स्नान, क्षमा, सत्य, सरलता और शौच (पवित्रता)—ये श्रेष्ठ पुरुषोंके आचारको लक्षित करानेवाले हैं ।। ८३$\frac{१}{२}$ ।।

सर्वभूतदयावन्तो अहिंसानिरताः सदा ।। ८४ ।।
परुषं च न भाषन्ते सदा सन्तो द्विजप्रियाः ।

जो समस्त प्राणियोंपर दया करते, सदा अहिंसा-धर्मके पालनमें तत्पर रहते और कभी किसीसे कटु वचन नहीं बोलते, ऐसे संत सदा समस्त द्विजोंके प्रिय होते हैं ।। ८४$\frac{१}{२}$ ।।

शुभानामशुभानां च कर्मणां फलसंचये ।। ८५ ।।
विपाकमभिजानन्ति ते शिष्टाः शिष्टसम्मताः ।

जो शुभ और अशुभ कर्मोंके फलसंचयसे सम्बन्ध रखनेवाले परिणामको जानते हैं, वे शिष्ट कहे गये है और शिष्ट पुरुषोंमें उनका समादर होता है ।। ८५$\frac{१}{२}$ ।।

न्यायोपेता गुणोपेताः सर्वलोकहितैषिणः ।। ८६ ।।
सन्तः स्वर्गजितः शुक्लाः संनिविष्टाश्च सत्पथे ।

जो न्यायपरायण, सद्गुणसम्पन्न, सब लोगोंका हित चाहनेवाले, हिंसारहित और सन्मार्गपर चलनेवाले हैं, वे श्रेष्ठ पुरुष स्वर्गलोकपर विजय पाते हैं ।। ८६½ ।।

दातारः संविभक्तारो दीनानुग्रहकारिणः ।। ८७ ।।
सर्वपूज्याः श्रुतधनास्तथैव च तपस्विनः ।
सर्वभूतदयावन्तस्ते शिष्टाः शिष्टसम्मताः ।। ८८ ।।

जो सबको दान देनेवाले, अपने कुटुम्बीजनोंमें प्रत्येक वस्तुको समानरूपसे बाँटकर उसका उपयोग करनेवाले, दीनजनोंपर कृपाभाव बनाये रखनेवाले, शास्त्रज्ञानके धनी, सबके लिये समादरणीय, तपस्वी और समस्त प्राणियोंके प्रति दयालु हैं, वे श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा सम्मानित शिष्ट कहे गये हैं ।। ८७-८८ ।।

दानशिष्टाः सुखाँल्लोकानाप्नुवन्तीह च श्रियम् ।
पीडया च कलत्रस्य भृत्यानां च समाहिताः ।। ८९ ।।
अतिशक्त्या प्रयच्छन्ति सन्तः सद्भिः समागताः ।
लोकयात्रां च पश्यन्तो धर्ममात्महितानि च ।। ९० ।।

जो दानसे अवशिष्ट वस्तुका उपयोग करनेवाले हैं, वे श्रेष्ठ पुरुष इस लोकमें सम्पत्ति और परलोकमें सुखमय लोक प्राप्त करते हैं। शिष्ट पुरुषोंके पास जब उत्तम पुरुष कुछ माँगनेके लिये पधारते हैं, उस समय वे अपनी स्त्री तथा कुटुम्बी जनोंको कष्ट देकर सभी मनोयोगपूर्वक अपनी शक्तिसे अधिक दान देते हैं। न्यायपूर्वक लोकयात्राका निर्वाह कैसे हो? धर्मकी रक्षा और आत्माका कल्याण किस प्रकार हो? इन्हीं बातोंकी ओर उनकी दृष्टि रहती है ।। ८९-९० ।।

एवं सन्तो वर्तमानास्त्वेधन्ते शाश्वतीः समाः ।
अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यमथार्जवम् ।। ९१ ।।
अद्रोहो नाभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा दमः शमः ।
धीमन्तो धृतिमन्तश्च भूतानामनुकम्पकाः ।। ९२ ।।
अकामद्वेषसंयुक्तास्ते सन्तो लोकसाक्षिणः ।

ऐसा बर्ताव करनेवाले संत पुरुष अनन्त कालतक उन्नतिकी ओर अग्रसर होते रहते हैं। जो अहिंसा, सत्यभाषण, कोमलता, सरलता, अद्रोह, अहंकारका त्याग, लज्जा, क्षमा, शम, दम—इन गुणोंसे युक्त बुद्धिमान, धैर्यवान् समस्त प्राणियोंपर अनुग्रह करनेवाले तथा राग-द्वेषसे रहित हैं, वे संत सम्पूर्ण लोकोंके लिये प्रमाणभूत हैं ।।

त्रीण्येव तु पदान्याहुः सतां व्रतमनुत्तमम् ।। ९३ ।।
न चैव द्रुह्येद् दद्याच्च सत्यं चैव सदा वदेत् ।

श्रेष्ठ पुरुष तीन ही पद बताते हैं—किसीसे द्रोह न करे, दान करे और सदा सत्य ही बोले। यह श्रेष्ठ पुरुषोंका सर्वोत्तम व्रत है ।। ९३½ ।।

सर्वत्र च दयावन्तः सन्तः करुणवेदिनः ।। ९४ ।।

गच्छन्तीह सुसंतुष्टा धर्मपन्थानमुत्तमम् ।
शिष्टाचारा महात्मानो येषां धर्मः सुनिश्चितः ।। ९५ ।।

जो सर्वत्र दया करते हैं, जिनके हृदयमें करुणाकी अनुभूति होती है, वे श्रेष्ठ पुरुष इस लोकमें अत्यन्त संतुष्ट रहकर धर्मके उत्तम पथपर चलते हैं। जिन्होंने धर्मको अपनाये रखनेका दृढ़ निश्चय कर लिया है, वे ही महात्मा सदाचारी हैं ।। ९४-९५ ।।

अनसूया क्षमा शान्तिः संतोषः प्रियवादिता ।
कामक्रोधपरित्यागः शिष्टाचारनिषेवणम् ।। ९६ ।।
कर्म च श्रुतसम्पन्नं सतां मार्गमनुत्तमम् ।

दोषदृष्टिका अभाव, क्षमा, शान्ति, संतोष, प्रियभाषण और काम-क्रोधका त्याग, शिष्टाचारका सेवन और शास्त्रके अनुकूल कर्म करना—यह श्रेष्ठ पुरुषोंका अति उत्तम मार्ग है ।। ९६½ ।।

शिष्टाचारं निषेवन्ते नित्यं धर्ममनुव्रताः ।। ९७ ।।
प्रज्ञाप्रासादमारुह्य मुच्यन्ते महतो भयात् ।
प्रेक्षन्तो लोकवृत्तानि विविधानि द्विजोत्तम ।। ९८ ।।
अतिपुण्यानि पापानि तानि द्विजवरोत्तम ।

द्विजश्रेष्ठ! जो धर्मात्मा पुरुष सदा शिष्टाचारका सेवन करते हैं और प्रज्ञारूपी प्रासादपर आरूढ़ हो भाँति-भाँतिके लोकचरित्रोंका निरीक्षण तथा अत्यन्त पुण्य एवं पापकर्मोंकी समीक्षा करते हैं, वे महान् भयसे मुक्त हो जाते हैं ।। ९७-९८½ ।।

एतत् ते सर्वमाख्यातं यथाप्रज्ञं यथाश्रुतम् ।
शिष्टाचारगुणं ब्रह्मन् पुरस्कृत्य द्विजर्षभ ।। ९९ ।।

ब्रह्मन्! विप्रवर! इस प्रकार शिष्टाचारके गुणोंके सम्बन्धमें मैंने जैसा जाना और सुना है, वह सब आपसे कह सुनाया है ।। ९९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २०७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मणव्याधसंवादविषयक दो सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २०७ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल १००½ श्लोक हैं)

अष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः

धर्मव्याधद्वारा हिंसा और अहिंसाका विवेचन

मार्कण्डेय उवाच

स तु विप्रमथोवाच धर्मव्याधो युधिष्ठिर ।
यदहमाचरे कर्म घोरमेतदसंशयम् ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर धर्मव्याधने कौशिक ब्राह्मणसे कहा —'मैं जो यह मांस बेचनेका व्यवसाय कर रहा हूँ, वास्तवमें यह अत्यन्त घोर कर्म है, इसमें संशय नहीं है ।। १ ।।

विधिस्तु बलवान् ब्रह्मन् दुस्तरं हि पुरा कृतम् ।
पुरा कृतस्य पापस्य कर्मदोषो भवत्ययम् ।। २ ।।
दोषस्यैतस्य वै ब्रह्मन् विघाते यत्नवानहम् ।

'किंतु ब्रह्मन्! दैव बलवान् है। पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मका ही नाम दैव है। उससे पार पाना बहुत कठिन है। यह जो कर्मदोषजनित व्याधके घर जन्म हुआ है, यह मेरे पूर्वजन्ममें किये हुए पापका ही फल है। ब्रह्मन्! मैं इस दोषके निवारणके लिये प्रयत्नशील हूँ ।। २ $\frac{१}{२}$ ।।

विधिना हि हते पूर्वं निमित्तं घातको भवेत् ।। ३ ।।

'क्योंकि विधाताके द्वारा पहलेसे ही जीवकी मृत्यु निश्चित की जाती है; किंतु घातक (कसाई अथवा व्याध) उसमें निमित्त बन जाता है अर्थात् जो स्वेच्छासे ज्ञानपूर्वक जीवहिंसा करता है, वह घातक व्यर्थ ही निमित्त बनकर दोषका भागी होता है ।। ३ ।।

निमित्तभूता हि वयं कर्मणोऽस्य द्विजोत्तम ।
येषां हतानां मांसानि विक्रीणामीह वै द्विज ।। ४ ।।
तेषामपि भवेद् धर्म उपयोगे न भक्षणे ।
देवतातिथिभृत्यानां पितॄणां चापि पूजनम् ।। ५ ।।

'द्विजश्रेष्ठ! इस कार्यमें हम निमित्तमात्र हैं। ब्रह्मन्! मैं जिन मारे गये प्राणियोंका मांस बेचता हूँ, उनके जीते-जी यदि उनका सदुपयोग किया जाता तो बड़ा धर्म होता। मांस-भक्षणमें तो धर्मका नाम भी नहीं है (उलटे महान् अधर्म होता है)। देवता, अतिथि, भरणीय कुटुम्बीजन और पितरोंका पूजन (आदर-सत्कार) अवश्य धर्म है ।। ४-५ ।।

ओषध्यो वीरुधश्चैव पशवो मृगपक्षिणः ।
अनादिभूता भूतानामित्यपि श्रूयते श्रुतिः ।। ६ ।।

ओषधियाँ, अन्न, तृण, लता, पशु, मृग और पक्षी आदि सभी वस्तुएँ सम्पूर्ण प्राणियोंके अनादि-कालसे उपयोगमें आती रहती हैं—ऐसी श्रुति भी सुनी जाती है ।। ६ ।।

आत्ममांसप्रसादेन शिबिरौशीनरो नृपः ।
स्वर्गं सुदुर्गमं प्राप्तः क्षमावान् द्विजसत्तम ।। ७ ।।

द्विजश्रेष्ठ! उशीनरके पुत्र क्षमाशील (और दयालु) राजा शिबिने (एक भूखे बाजको कबूतरके बदले) अपने शरीरका मांस अर्पित कर दिया था और उसीके प्रसादसे उन्हें परम दुर्लभ स्वर्गलोककी प्राप्ति हुई थी ।। ७ ।।

स्वधर्म इति कृत्वा तु न त्यजामि द्विजोत्तम ।
पुरा कृतमिति ज्ञात्वा जीवाम्येतेन कर्मणा ।। ८ ।।

'विप्रवर! मैं अपना स्वधर्म समझकर यह धंधा नहीं छोड़ रहा हूँ। पहलेसे मेरे पूर्वज यही करते आये हैं, ऐसा समझकर मैं इसी कर्मसे जीवन-निर्वाह करता हूँ ।। ८ ।।

स्वकर्म त्यजतो ब्रह्मन्नधर्म इह दृश्यते ।
स्वकर्मनिरतो यस्तु धर्मः स इति निश्चयः ।। ९ ।।

'ब्रह्मन्! अपने कर्मका परित्याग करनेवालेको यहाँ अधर्मकी प्राप्ति देखी जाती है। जो अपने कर्ममें तत्पर है, उसीका बर्ताव धर्मपूर्ण है, ऐसा सिद्धान्त है ।। ९ ।।

पूर्वं हि विहितं कर्म देहिनं न विमुञ्चति ।
धात्रा विधिरयं दृष्टो बहुधा कर्मनिर्णये ।। १० ।।

'पहलेका किया हुआ कर्म देहधारी मनुष्यको नहीं छोड़ता है। बहुधा कर्मका निर्णय करते समय विधाताने इसी विधिको अपने सामने रखा है ।। १० ।।

द्रष्टव्या तु भवेत् प्रज्ञा क्रूरे कर्मणि वर्तता ।
कथं कर्म शुभं कुर्यां कथं मुच्ये पराभवात् ।। ११ ।।

'जो क्रूर कर्ममें लगा हुआ है, उसे सदा यह सोचते रहना चाहिये कि 'मैं कैसे शुभ कर्म करूँ और किस प्रकार इस निन्दित कर्मसे छुटकारा पाऊँ' ।। ११ ।।

कर्मणस्तस्य घोरस्य बहुधा निर्णयो भवेत् ।
दाने च सत्यवाक्ये च गुरुशुश्रूषणे तथा ।। १२ ।।
द्विजातिपूजने चाहं धर्मे च निरतः सदा ।
अभिमानातिवादाभ्यां निवृत्तोऽस्मि द्विजोत्तम ।। १३ ।।

'बार-बार ऐसा करनेसे उस घोर कर्मसे छूटनेके विषयमें कोई निश्चित उपाय प्राप्त हो जाता है। द्विजश्रेष्ठ! मैं दान, सत्यभाषण, गुरुसेवा, ब्राह्मणपूजन तथा धर्मपालनमें सदा तत्पर रहकर अभिमान और अतिवादसे दूर रहता हूँ ।। १२-१३ ।।

कृषिं साध्विति मन्यन्ते तत्र हिंसा परा स्मृता ।
कर्षन्तो लाङ्गलैः पुंसो घ्नन्ति भूमिशयान् बहून् ।
जीवानन्यांश्च बहुशस्तत्र किं प्रतिभाति ते ।। १४ ।।

कुछ लोग खेतीको उत्तम मानते हैं, परंतु उसमें भी बहुत बड़ी हिंसा होती है। हल चलानेवाले मनुष्य धरतीके भीतर शयन करनेवाले बहुत-से प्राणियोंकी हत्या कर डालते हैं।

इनके सिवा और भी बहुत-से जीवोंका वध वे करते रहते हैं। इस विषयमें आप क्या समझते हैं? ।।

धान्यबीजानि यान्याहुर्व्रीह्यादीनि द्विजोत्तम ।
सर्वाण्येतानि जीवानि तत्र किं प्रतिभाति ते ।। १५ ।।

'द्विजश्रेष्ठ! धान आदि जितने अन्नके बीज हैं, वे सब-के-सब जीव ही हैं; अतः इस विषयमें आप क्या समझते हैं? ।। १५ ।।

अध्याक्रम्य पशूंश्चापि घ्नन्ति वै भक्षयन्ति च ।
वृक्षांस्तथौषधीश्चापि छिन्दन्ति पुरुषा द्विज ।। १६ ।।
जीवा हि बहवो ब्रह्मन् वृक्षेषु च फलेषु च ।
उदके बहवश्चापि तत्र किं प्रतिभाति ते ।। १७ ।।

'विप्रवर! कितने ही मनुष्य पशुओंपर आक्रमण करके उन्हे मारते और खाते हैं। वृक्षों तथा ओषधियों (अन्तके पौधों)-को काटते हैं। वृक्षों और फलोंमें भी बहुत-से जीव रहते हैं। जलमें भी नाना प्रकारके जीव रहते हैं। ब्रह्मन्! उनके विषयमें आप क्या समझते हैं? ।। १६-१७ ।।

सर्वं व्याप्तमिदं ब्रह्मन् प्राणिभिः प्राणिजीवनैः ।
मत्स्यान् ग्रसन्ते मत्स्याश्च तत्र किं प्रतिभाति ते ।। १८ ।।

'जीवोंसे ही जीवन-निर्वाह करनेवाले जीवोंद्वारा यह सारा जगत् व्याप्त है। मत्स्य मत्स्योंतकको अपना ग्रास बना लेते हैं। उनके विषयमें आप क्या समझते हैं? ।। १८ ।।

सत्त्वैः सत्त्वानि जीवन्ति बहुधा द्विजसत्तम ।
प्राणिनोऽन्योन्यभक्षाश्च तत्र किं प्रतिभाति ते ।। १९ ।।

'द्विजश्रेष्ठ! बहुधा जीव जीवोंसे ही जीवन धारण करते हैं और प्राणी स्वयं ही एक-दूसरेको अपना आहार बना लेते हैं। उनके विषयमें आप क्या समझते हैं? ।। १९ ।।

चङ्क्रम्यमाणा जीवांश्च धरणीसंश्रितान् बहून् ।
पद्भ्यां घ्नन्ति नरा विप्र तत्र किं प्रतिभाति ते ।। २० ।।

'मनुष्य चलते-फिरते समय धरतीके बहुत-से जीव-जन्तुओंको (असावधानीपूर्वक) पैरोंसे मार देते हैं। ब्रह्मन्! उनके विषयमें आप क्या समझते हैं? ।। २० ।।

उपविष्टाः शयानाश्च घ्नन्ति जीवाननेकशः ।
ज्ञानविज्ञानवन्तश्च तत्र किं प्रतिभाति ते ।। २१ ।।

'ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न पुरुष भी (अनजानमें) बैठते-सोते समय अनेक जीवोंकी हिंसा कर बैठते हैं। उनके विषयमें आप क्या समझते हैं? ।। २१ ।।

जीवैर्ग्रस्तमिदं सर्वमाकाशं पृथिवी तथा ।
अविज्ञानाच्च हिंसन्ति तत्र किं प्रतिभाति ते ।। २२ ।।

‘आकाशसे लेकर पृथ्वीतक यह सारा जगत् जीवोंसे भरा हुआ है। कितने ही मनुष्य अनजानमें भी जीवहिंसा करते हैं। इस विषयमें आप क्या समझते हैं? ।। २२ ।।

अहिंसेति यदुक्तं हि पुरुषैर्विस्मितैः पुरा ।
के न हिंसन्ति जीवान् वै लोकेऽस्मिन् द्विजसत्तम ।
बहु संचित्य इति वै नास्ति कश्चिदहिंसकः ।। २३ ।।

‘पूर्वकालके अभिमानशून्य श्रेष्ठ पुरुषोंने जो अहिंसाका उपदेश किया है (उसका तत्त्व समझना चाहिये; क्योंकि) द्विजश्रेष्ठ! (स्थूल दृष्टिसे देखा जाय तो) इस संसारमें कौन जीवहिंसा नहीं करते हैं? बहुत सोच-विचारकर मैं इस निश्चयपर पहुँचा हूँ कि कोई भी (क्रियाशील मनुष्य) अहिंसक नहीं है ।। २३ ।।

अहिंसायां तु निरता यतयो द्विजसत्तम ।
कुर्वन्त्येव हि हिंसां ते यत्नादल्पतरा भवेत् ।। २४ ।।

‘द्विजश्रेष्ठ! यतिलोग अहिंसा-धर्मके पालनमें तत्पर होते हैं, परंतु वे भी हिंसा कर ही डालते हैं (अर्थात् उनके द्वारा भी हिंसा हो ही जाती है)। अवश्य ही यत्नपूर्वक चेष्टा करनेसे हिंसाकी मात्रा बहुत कम हो सकती है ।। २४ ।।

आलक्ष्याश्चैव पुरुषाः कुले जाता महागुणाः ।
महाघोराणि कर्माणि कृत्वा लज्जन्ति वै द्विज ।। २५ ।।

‘ब्रह्मन्! उत्तम कुलमें उत्पन्न, परम सद्गुणसम्पन्न और श्रेष्ठ माने जानेवाले पुरुष भी अत्यन्त भयानक कर्म करके लज्जाका अनुभव करते ही हैं ।। २५ ।।

सुहृदः सुहृदोऽन्यांश्च दुर्हृदश्चापि दुर्हृदः ।
सम्यक् प्रवृत्तान् पुरुषान् न सम्यगनुपश्यतः ।। २६ ।।

‘मित्र दूसरे मित्रोंको और शत्रु अपने शत्रुओंको, वे अच्छे कर्ममें लगे हुए हों तो भी अच्छी दृष्टिसे नहीं देखते ।। २६ ।।

समृद्धैश्च न नन्दन्ति बान्धवा बान्धवैरपि ।
गुरूंश्चैव विनिन्दन्ति मूढाः पण्डितमानिनः ।। २७ ।।

‘बन्धु-बान्धव अपने समृद्धिशाली बान्धवोंसे भी प्रसन्न नहीं रहते। अपनेको पण्डित माननेवाले मूढ़ मनुष्य गुरुजनोंकी भी निन्दा करते हैं ।। २७ ।।

बहु लोके विपर्यस्तं दृश्यते द्विजसत्तम ।
धर्मयुक्तमधर्मं च तत्र किं प्रतिभाति ते ।। २८ ।।

‘द्विजश्रेष्ठ! इस प्रकार जगत्में अनेक उलटी बातें दिखायी देती हैं। अधर्म भी धर्मसे युक्त प्रतीत होता है। इस विषयमें आप क्या समझते हैं? ।। २८ ।।

वक्तुं बहुविधं शक्यं धर्माधर्मेषु कर्मसु ।
स्वकर्मनिरतो यो हि स यशः प्राप्नुयान्महत् ।। २९ ।।

‘धर्म और अधर्मसम्बन्धी कार्योंके विषयमें और भी बहुत-सी बातें कही जा सकती हैं। अतएव जो अपने कुलोचित कर्ममें लगा हुआ है, वही महान् यशका भागी होता है’ ।। २९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि पतिव्रतोपाख्याने ब्राह्मणव्याधसंवादे अष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २०८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें पतिव्रतोपाख्यानके प्रसंगमें ब्राह्मणव्याधसंवादविषयक दो सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २०८ ।।

नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः

धर्मकी सूक्ष्मता, शुभाशुभ कर्म और उनके फल तथा ब्रह्मकी प्राप्तिके उपायोंका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

धर्मव्याधस्तु निपुणं पुनरेव युधिष्ठिर ।
विप्रर्षभमुवाचेदं सर्वधर्मभृतां वर ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—सम्पूर्ण धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर! तदनन्तर धर्मव्याधने विप्रवर कौशिकसे पुनः कुशलतापूर्वक कहना आरम्भ किया ।। १ ।।

व्याध उवाच

श्रुतिप्रमाणो धर्मोऽयमिति वृद्धानुशासनम् ।
सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य बहुशाखा ह्यनन्तिका ।। २ ।।

व्याध बोला—वृद्ध पुरुषोंका कहना है कि 'धर्मके विषयमें केवल वेद ही प्रमाण है।' यह ठीक है, तो भी धर्मकी गति बड़ी सूक्ष्म है। उसके अनन्त भेद और अनेक शाखाएँ हैं ।। २ ।।

प्राणान्तिके विवाहे च वक्तव्यमनृतं भवेत् ।
अनृतेन भवेत् सत्यं सत्येनैवानृतं भवेत् ।। ३ ।।

(वेदके अनुसार सत्य धर्म और असत्य अधर्म हैं, परंतु) यदि किसीके प्राणोंपर संकट आ जाय अथवा कन्या आदिका विवाह तै करना हो तो ऐसे अवसरोंपर प्राणरक्षा आदिके लिये झूठ बोलनेकी आवश्यकता पड़ जाय तो वहाँ असत्यसे ही सत्यका फल मिलता है। इसके विपरीत (यदि सत्यभाषणसे किसीके प्राणोंपर संकट आ गया, तो वहाँ) सत्यसे ही असत्यका फल प्राप्त होता है ।। ३ ।।

यद् भूतहितमत्यन्तं तत् सत्यमिति धारणा ।
विपर्ययकृतोऽधर्मः पश्य धर्मस्य सूक्ष्मताम् ।। ४ ।।

जिससे परिणाममें प्राणियोंका अत्यन्त हित होता हो, वह वास्तवमें सत्य है। इसके विपरीत जिससे किसीका अहित होता हो या दूसरोंके प्राण जाते हों, वह देखनेमें सत्य होनेपर भी वास्तवमें असत्य एवं अधर्म है*। इस प्रकार विचार करके देखिये, धर्मकी गति कितनी सूक्ष्म है ।। ४ ।।

यत् करोत्यशुभं कर्म शुभं वा यदि सत्तम ।
अवश्यं तत् समाप्नोति पुरुषो नात्र संशयः ।। ५ ।।

सज्जनशिरोमणे! मनुष्य जो शुभ या अशुभ कार्य करता है, उसका फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है, इसमें संशय नहीं है ।। ५ ।।

विषमां च दशां प्राप्तो देवान् गर्हति वै भृशम् ।
आत्मनः कर्मदोषाणि न विजानात्यपण्डितः ।। ६ ।।

मूर्ख मानव संकटकी दशामें पड़नेपर देवताओंको बहुत कोसता है, उनकी भरपेट निन्दा करता है; किंतु वह यह नहीं समझता कि यह अपने ही कर्मोंका दोषावह परिणाम है ।। ६ ।।

मूढो नैकृतिकश्चापि चपलश्च द्विजोत्तम ।
सुखदुःखविपर्यासान् सदा समुपपद्यते ।। ७ ।।
नैनं प्रज्ञा सुनीतं वा त्रायते नैव पौरुषम् ।

द्विजश्रेष्ठ! मूर्ख, शठ और चंचल चित्तवाला मनुष्य सदा ही भ्रमवश सुखमें दुःख और दुःखमें सुखबुद्धि कर लेता है। उस समय बुद्धि, उत्तम नीति (शिक्षा) तथा पुरुषार्थ भी उसकी रक्षा नहीं कर पाते ।। ७½ ।।

योऽयमिच्छेद् यथा कामं तं तं कामं स आप्नुयात् ।। ८ ।।
यदि स्यादपराधीनं पौरुषस्य क्रियाफलम् ।

यदि पुरुषार्थजनित कर्मका फल पराधीन न होता तो जिसकी जो इच्छा होती, उसीको वह प्राप्त कर लेता ।। ८½ ।।

संयताश्चापि दक्षाश्च मतिमन्तश्च मानवाः ।। ९ ।।
दृश्यन्ते निष्फलाः सन्तः प्रहीणाः सर्वकर्मभिः ।

किंतु बड़े-बड़े संयमी, कार्यकुशल और बुद्धिमान् मनुष्य भी अपना काम करते-करते थक जाते हैं तो भी वे इच्छानुसार फलकी प्राप्तिसे वंचित ही देखे जाते हैं ।। ९½ ।।

भूतानामपरः कश्चिद्धिंसायां सततोत्थितः ।। १० ।।
वञ्चनायां च लोकस्य स सुखी जीवते सदा ।

तथा दूसरा मनुष्य, जो निरन्तर जीवोंकी हिंसाके लिये उद्यत रहता है और सदा लोगोंको ठगनेमें ही लगा रहता है, वह सुखपूर्वक जीवन बिताता देखा जाता है ।। १०½ ।।

अचेष्टमपि चासीनं श्रीः कंचिदुपतिष्ठति ।। ११ ।।
कश्चित् कर्माणि कुर्वन् हि न प्राप्यमधिगच्छति ।

कोई बिना उद्योग किये चुपचाप बैठा रहता है और लक्ष्मी उसकी सेवामें उपस्थित हो जाती है और कोई सदा काम करते रहनेपर भी अपने उचित वेतनसे भी वञ्चित रह जाता है (ऐसा देखा जाता है) ।। ११½ ।।

देवानिष्ट्वा तपस्तप्त्वा कृपणैः पुत्रगृद्धिभिः ।। १२ ।।
दशमासधृता गर्भे जायन्ते कुलपांसनाः ।

कितने ही दीन मनुष्य पुत्रकी कामना रखकर देवताओंको पूजते और कठिन तपस्या करते हैं, तो भी उनके द्वारा गर्भमें स्थापित तथा दस मासतक माताके उदरमें पालित होकर जो पुत्र पैदा होते हैं वे कुलांगार निकल जाते हैं* ।। १२½ ।।

अपरे धनधान्यैश्च भोगैश्च पितृसंचितैः ।। १३ ।।
विपुलैरभिजायन्ते लब्धास्तैरेव मङ्गलैः ।

और दूसरे बहुत-से ऐसे भी हैं जो अपने पिताके द्वारा जोड़कर रखे हुए धन-धान्य तथा भोग-विलासके प्रचुर साधनोंके साथ पैदा होते हैं और उनकी प्राप्ति भी उन्हीं मांगलिक कृत्योंके अनुष्ठानसे होती है ।। १३½ ।।

कर्मजा हि मनुष्याणां रोगा नास्त्यत्र संशयः ।। १४ ।।
आधिभिश्चैव बाध्यन्ते व्याधैः क्षुद्रमृगा इव ।

इसमें संदेह नहीं कि मनुष्योंके जो रोग होते हैं, वे उनके कर्मोंके ही फल हैं। जैसे बहेलिये छोटे मृगोंको पीड़ा देते हैं, उसी प्रकार वे रोग और आधि-व्याधियाँ जीवोंको पीड़ा देती रहती हैं ।। १४½ ।।

ते चापि कुशलैर्वैद्यैर्निपुणैः सम्भृतौषधैः ।। १५ ।।
व्याधयो विनिवार्यन्ते मृगा व्याधैरिव द्विज ।

ब्रह्मन्! (उनका भोग पूरा होनेपर) ओषधियोंका संग्रह करनेवाले चिकित्साकुशल चतुर चिकित्सक उन रोगव्याधियोंका उसी प्रकार निवारण कर देते हैं, जैसे व्याध मृगोंको भगा देते हैं ।। १५½ ।।

येषामस्ति च भोक्तव्यं ग्रहणीदोषपीडिताः ।। १६ ।।
न शक्नुवन्ति ते भोक्तुं पश्य धर्मभृतां वर ।

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ कौशिक! देखो, जिनके यहाँ भोजनका भण्डार भरा पड़ा है, उन्हें प्रायः संग्रहणी सता रही है, वे उसका उपभोग नहीं कर पाते ।। १६½ ।।

अपरे बाहुबलिनः क्लिश्यन्ते बहवो जनाः ।। १७ ।।
दुःखेन चाधिगच्छन्ति भोजनं द्विजसत्तम ।

विप्रवर! दूसरे बहुत-से ऐसे मनुष्य हैं, जिनकी भुजाओंमें बल है—जो स्वस्थ और अन्नको पचानेमें समर्थ हैं, परंतु उन्हें बड़ी कठिनाईसे भोजन मिल पाता है—वे सदा ही अन्नका कष्ट भोगते रहते हैं ।। १७½ ।।

इति लोकमनाक्रन्दं मोहशोकपरिप्लुतम् ।। १८ ।।
स्रोतसासकृदाक्षिप्तं ह्रियमाणं बलीयसा ।

इस प्रकार यह संसार असहाय तथा मोह, शोकमें डूबा हुआ है। कर्मोंके अत्यन्त प्रबल प्रवाहमें पड़कर बार-बार उसकी आधि-व्याधिरूपी तरंगोंके थपेड़े सहता और विवश होकर इधर-से-उधर बहता रहता है ।। १८½ ।।

न म्रियेयुर्न जीर्येयुः सर्वे स्युः सार्वकामिकाः ।। १९ ।।

नाप्रियं प्रतिपश्येयुर्वशित्वं यदि वै भवेत् ।

यदि जीव अपने वशमें होते तो वे न मरते और न बूढ़े ही होते। सभी सब तरहकी मनचाही वस्तुओंको प्राप्त कर लेते। किसीको अप्रिय घटना नहीं देखनी पड़ती ।। १९½ ।।

उपर्युपरि लोकस्य सर्वो गन्तुं समीहते ।

यतते च यथाशक्ति न च तद् वर्तते तथा ।। २० ।।

सब लोग सारे जगत्‌के ऊपर-ऊपर जानेकी इच्छा रखते हैं—सभी सबसे ऊँचा होना चाहते हैं और उसके लिये वे यथाशक्ति प्रयत्न भी करते हैं परंतु (सभी जगह) वैसा होता नहीं है ।। २० ।।

बहवः सम्प्रदृश्यन्ते तुल्यनक्षत्रमङ्गलाः ।

महच्च फलवैषम्यं दृश्यते कर्मसंधिषु ।। २१ ।।

बहुत-से ऐसे मनुष्य देखे जाते हैं, जिनका जन्म एक ही नक्षत्रमें हुआ है और जिनके लिये मंगल कृत्य भी समानरूपसे ही किये गये हैं, परंतु विभिन्न प्रकारके कर्मोंका संग्रह होनेके कारण उन्हें प्राप्त होनेवाले फलमें महान् अन्तर दृष्टिगोचर होता है ।। २१ ।।

न केचिदीशते ब्रह्मन् स्वयंग्राह्यस्य सत्तम ।

कर्मणा प्राक् कृतानां वै इह सिद्धिः प्रदृश्यते ।। २२ ।।

ब्रह्मन्! साधुशिरोमणे! कोई अपने हाथमें आयी हुई वस्तुका भी उपयोग करनेमें समर्थ नहीं है। इस जगत्‌में पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मोंके ही फलकी प्राप्ति देखी जाती है ।। २२ ।।

यथाश्रुतिरियं ब्रह्मन् जीवः किल सनातनः ।

शरीरमध्रुवं लोके सर्वेषां प्राणिनामिह ।। २३ ।।

विप्रवर! श्रुतिके अनुसार यह जीवात्मा निश्चय ही सनातन है और इस संसारमें समस्त प्राणियोंका शरीर नश्वर है ।। २३ ।।

वध्यमाने शरीरे तु देहनाशो भवत्युत ।

जीवः सङ्क्रमतेऽन्यत्र कर्मबन्धनिबन्धनः ।। २४ ।।

शरीरपर आघात करनेसे उस शरीरका नाश तो हो जाता है; किंतु अविनाशी जीव नहीं मरता। वह कर्मोंके बन्धनमें बँधकर फिर दूसरे शरीरमें प्रवेश कर जाता है ।।

ब्राह्मण उवाच

कथं धर्मविदां श्रेष्ठ जीवो भवति शाश्वतः ।

एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं तत्त्वेन वदतां वर ।। २५ ।।

ब्राह्मणने पूछा—धर्मज्ञों तथा वक्ताओंमें श्रेष्ठ व्याध! जीव सनातन कैसे है? मैं इस विषयको यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ ।। २५ ।।

व्याध उवाच

न जीवनाशोऽस्ति हि देहभेदे
मिथ्यैतदाहुर्म्रियते किलेति ।
जीवस्तु देहान्तरितः प्रयाति
दशार्धतैवास्य शरीरभेदः ।। २६ ।।

धर्मव्याधने कहा—ब्रह्मन्! देहका नाश होनेपर जीवका नाश नहीं होता। मनुष्योंका यह कथन कि 'जीव मरता है' मिथ्या ही है, किंतु जीव तो इस शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें चला जाता है। शरीरके पाँचों तत्त्वोंका पृथक्-पृथक् पाँच भूतोंमें मिल जाना ही उसका नाश कहलाता है ।। २६ ।।

अन्यो हि नाश्नाति कृतं हि कर्म
मनुष्यलोके मनुजस्य कश्चित् ।
यत् तेन किंचिद्धि कृतं हि कर्म
तदश्नुते नास्ति कृतस्य नाशः ।। २७ ।।

इस मानवलोकमें मनुष्यके किये हुए कर्मको (उस कर्ताके सिवा) दूसरा कोई नहीं भोगता है। उसके द्वारा जो कुछ ही कर्म किया गया है, उसे वह स्वयं ही भोगेगा। किये हुए कर्मोंका कभी नाश नहीं होता ।।

सुपुण्यशीला हि भवन्ति पुण्या
नराधमाः पापकृतो भवन्ति ।
नरोऽनुयातस्त्विह कर्मभिः स्वै-
स्ततः समुत्पद्यति भावितस्तैः ।। २८ ।।

पुण्यात्मा मनुष्य पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करते हैं और नीच मनुष्य पापमें प्रवृत्त होते हैं। यहाँ अपने किये हुए कर्म मनुष्यका अनुसरण करते हैं और उनसे प्रभावित होकर वह दूसरा जन्म धारण करता है ।। २८ ।।

ब्राह्मण उवाच

कथं सम्भवते योनौ कथं वा पुण्यपापयोः ।
जातीः पुण्यास्त्वपुण्याश्च कथं गच्छति सत्तम ।। २९ ।।

ब्राह्मणने पूछा—सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ! जीव दूसरी योनिमें कैसे जन्म लेता है, पाप और पुण्यसे उसका सम्बन्ध किस प्रकार होता है तथा उसे पुण्ययोनि और पापयोनिकी प्राप्ति कैसे होती है? ।। २९ ।।

व्याध उवाच

गर्भाधानसमायुक्तं कर्मेदं सम्प्रदृश्यते ।
समासेन तु ते क्षिप्रं प्रवक्ष्यामि द्विजोत्तम ।। ३० ।।

व्याधने कहा—विप्रवर! गर्भाधान आदि संस्कार-सम्बंधी ग्रन्थोंद्वारा यह प्रतिपादन किया गया है 'कि यह जो कुछ भी दृष्टिगोचर हो रहा है, सब कर्मोंका ही परिणाम है।' अतः किस कर्मसे कहाँ जन्म होता है? इस विषयका मैं तुमसे संक्षिप्त वर्णन करता हूँ, सुनो ।। ३० ।।

यथा सम्भृतसम्भारः पुनरेव प्रजायते ।
शुभकृच्छुभयोनीषु पापकृत् पापयोनिषु ।। ३१ ।।

जीव कर्मबीजोंका संग्रह करके जिस प्रकार पुनः जन्म ग्रहण करता है, वह बताया जा रहा है। शुभकर्म करनेवाला मनुष्य शुभ योनियोंमें और पापकर्म करनेवाला पापयोनियोंमें जन्म लेता है ।। ३१ ।।

शुभैः प्रयोगैर्देवत्वं व्यामिश्रैर्मानुषो भवेत् ।
मोहनीयैर्वियोनीषु त्वधोगामी च किल्बिषी ।। ३२ ।।

शुभकर्मोंके संयोगसे जीवको देवत्वकी प्राप्ति होती है। शुभ और अशुभ दोनोंके सम्मिश्रणसे उसका मनुष्य-योनिमें जन्म होता है। मोहमें डालनेवाले तामस कर्मोंके आचरणसे जीव पशु, पक्षी आदिकी योनिमें जन्म ग्रहण करता है और जिसने केवल पापका ही संचय किया है, वह नरकगामी होता है ।। ३२ ।।

जातिमृत्युजरादुःखैः सततं समभिद्रुतः ।
संसारे पच्यमानश्च दोषैरात्मकृतैर्नरः ।। ३३ ।।

मनुष्य अपने ही किये हुए अपराधोंके कारण जन्म-मृत्यु और जरासम्बन्धी दुःखोंसे सदा पीडित हो बारंबार संसारमें पचता रहता है ।। ३३ ।।

तिर्यग्योनिसहस्राणि गत्वा नरकमेव च ।
जीवाः सम्परिवर्तन्ते कर्मबन्धनिबन्धनाः ।। ३४ ।।

कर्मबन्धनमें बँधे हुए (पापी) जीव सहस्रों प्रकारकी तिर्यक् योनियों तथा नरकोंमें चक्कर लगाया करते हैं ।। ३४ ।।

जन्तुस्तु कर्मभिस्तैस्तैः स्वकृतैः प्रेत्य दुःखितः ।
तद्दुःखप्रतिघातार्थमपुण्यां योनिमाप्नुते ।। ३५ ।।

प्रत्येक जीव अपने किये हुए कर्मोंसे ही मृत्युके पश्चात् दुःख भोगता है और उस दुःखका भोग करनेके लिये ही वह (चाण्डालादि) पापयोनिमें जन्म लेता है ।।

ततः कर्म समादत्ते पुनरन्यं नवं बहु ।
पच्यते तु पुनस्तेन भुक्त्वापथ्यमिवातुरः ।। ३६ ।।

वहाँ फिर नये-नये बहुत-से पापकर्म कर डालता है, जिसके कारण कुपथ्य खा लेनेवाले रोगीकी भाँति उसे नाना प्रकारके कष्ट भोगने पड़ते हैं ।। ३६ ।।

अजस्रमेव दुःखार्तोऽदुःखितः सुखसंज्ञितः ।
ततोऽनिवृत्तबन्धत्वात् कर्मणामुदयादपि ।। ३७ ।।

परिक्रामति संसारे चक्रवद् बहुवेदनः ।

इस प्रकार वह यद्यपि निरन्तर दुःख ही भोगता रहता है, तथापि अपनेको दुःखी नहीं मानता। इस दुःखको ही वह सुखकी संज्ञा दे देता है। जबतक बन्धनमें डालनेवाले कर्मोंका भोग पूरा नहीं होता और नये-नये कर्म बनते रहते हैं तबतक अनेक प्रकारके कष्टोंको सहन करता हुआ वह चक्रकी तरह इस संसारमें चक्कर लगाता रहता है ।। ३७ $\frac{१}{२}$ ।।

स चेन्निवृत्तबन्धस्तु विशुद्धश्चापि कर्मभिः ।। ३८ ।।
तपोयोगसमारम्भं कुरुते द्विजसत्तम ।
कर्मभिर्बहुभिश्चापि लोकानश्नाति मानवः ।। ३९ ।।

द्विजश्रेष्ठ! जब बन्धनकारक कर्मोंका भोग पूरा हो जाता है और सत्कर्मोंके द्वारा मनुष्यमें शुद्धि आ जाती है, तब वह तप और योगका आरम्भ करता है। अतः बहुत-से शुभकर्मोंके फलस्वरूप उसे उत्तम लोकोंका भोग प्राप्त होता है ।। ३८-३९ ।।

स चेन्निवृत्तबन्धस्तु विशुद्धश्चापि कर्मभिः ।
प्राप्नोति सुकृताँल्लोकान् यत्र गत्वा न शोचति ।। ४० ।।

इस प्रकार बन्धनरहित तथा शुद्ध हुआ मनुष्य अपने पुण्य कर्मोंके प्रभावसे पुण्यलोक प्राप्त करता है, जहाँ जाकर कोई भी शोक नहीं करता है ।। ४० ।।

पापं कुर्वन् पापवृत्तः पापस्यान्तं न गच्छति ।
तस्मात् पुण्यं यतेत् कर्तुं वर्जयीत च पापकम् ।। ४१ ।।

पाप करनेवाले मनुष्यको पापकी आदत हो जाती है, फिर उसके पापका अन्त नहीं होता। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह पुण्य कर्म करनेका ही प्रयत्न करे और पापको सर्वथा त्याग दे ।। ४१ ।।

अनसूयुः कृतज्ञश्च कल्याणानि च सेवते ।
सुखानि धर्ममर्थं च स्वर्गं च लभते नरः ।। ४२ ।।

पुण्यात्मा मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित और कृतज्ञ होकर कल्याणकारी कर्मोंका सेवन करता है तथा उसे सुख, धर्म, अर्थ एवं स्वर्गकी प्राप्ति होती है ।। ४२ ।।

संस्कृतस्य च दान्तस्य नियतस्य यतात्मनः ।
प्राज्ञस्यानन्तरा वृत्तिरिह लोके परत्र च ।। ४३ ।।

जो संस्कारसम्पन्न, जितेन्द्रिय, शौचाचारपरायण और मनको काबूमें रखनेवाला है, उस बुद्धिमान् पुरुषको इहलोक और परलोकमें भी सुखकी प्राप्ति होती है ।।

सतां धर्मेण वर्तेत क्रियां शिष्टवदाचरेत् ।
असंक्लेशेन लोकस्य वृत्तिं लिप्सेत वै द्विज ।। ४४ ।।

ब्रह्मन्! अतः मनुष्यको चाहिये कि वह सत्पुरुषोंके धर्मका पालन करे, शिष्ट पुरुषोंके समान बर्ताव करे और जगत्में किसी भी प्राणीको कष्ट दिये बिना जिससे जीवन-निर्वाह हो सके—ऐसी आजीविका प्राप्त करनेकी इच्छा करे ।। ४४ ।।

सन्ति ह्यागमविज्ञानाः शिष्टाः शास्त्रे विचक्षणाः ।
स्वधर्मेण क्रिया लोके कर्मणः सोऽप्यसंकरः ।। ४५ ।।

संसारमें बहुत-से वेदवेत्ता और शास्त्रविचक्षण शिष्ट पुरुष विद्यमान हैं, उनके उपदेशके अनुसार स्वधर्मके पालनपूर्वक प्रत्येक कार्य करना चाहिये, इससे कर्मोंका संकर नहीं हो पाता ।। ४५ ।।

प्राज्ञो धर्मेण रमते धर्मं चैवोपजीवति ।
तस्माद् धर्मादवाप्तेन धनेन द्विजसत्तम ।। ४६ ।।
तस्यैव सिञ्चते मूलं गुणान् पश्यति तत्र वै ।

द्विजश्रेष्ठ! बुद्धिमान् पुरुष धर्मसे ही आनन्द मानता है, धर्मका ही आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करता है और धर्मसे ही उपलब्ध किये हुए धनसे धनका ही मूल सींचता है, अर्थात् धर्मका पालन करता है। वह धर्ममें ही गुण देखता है ।। ४६½ ।।

धर्मात्मा भवति ह्येवं चित्तं चास्य प्रसीदति ।। ४७ ।।
स मित्रजनसंतुष्ट इह प्रेत्य च नन्दति ।

इस प्रकार वह धर्मात्मा होता है, उसका अन्तःकरण निर्मल हो जाता है तथा मित्रजनोंसे संतुष्ट होकर वह इहलोक और परलोकमें भी आनन्दित होता है ।। ४७½ ।।

शब्दं स्पर्शं तथा रूपं गन्धानिष्टांश्च सत्तम ।। ४८ ।।
प्रभुत्वं लभते चापि धर्मस्यैतत् फलं विदुः ।

सज्जनशिरोमणे! धर्मात्मा पुरुष शब्द, स्पर्श, रूप और प्रिय गन्ध—सभी प्रकारके विषय तथा प्रभुत्व भी प्राप्त करता है। उसकी यह स्थिति धर्मका ही फल मानी गयी है ।। ४८½ ।।

धर्मस्य च फलं लब्ध्वा न तृप्यति महाद्विज ।। ४९ ।।
अतृप्यमाणो निर्वेदमापेदे ज्ञानचक्षुषा ।

द्विजोत्तम! कोई-कोई धर्मके फलरूपसे सांसारिक सुखको पाकर संतुष्ट नहीं होता। वह ज्ञानदृष्टिके कारण विषयभोगके सुखसे तृप्ति-लाभ न करके निर्वेद (वैराग्य)-को प्राप्त होता है ।। ४९½ ।।

प्रज्ञाचक्षुर्नर इह दोषं नैवानुरुध्यते ।। ५० ।।
विरज्यति यथाकामं न च धर्मं विमुञ्चति ।

इस जगत्में ज्ञानदृष्टिसे सम्पन्न पुरुष राग-द्वेष आदि दोषोंका अनुसरण नहीं करता। उसे यथेष्ट वैराग्य होता है तथा वह कभी धर्मका त्याग नहीं करता है ।।

सर्वत्यागे च यतते दृष्ट्वा लोकं क्षयात्मकम् ।। ५१ ।।
ततो मोक्षे प्रयतते नानुपायादुपायतः ।

सम्पूर्ण जगत्‌को नश्वर समझकर वह सबको त्यागनेका प्रयत्न करता है। तत्पश्चात् उचित उपायसे मोक्षके लिये सचेष्ट होता है। अनुपाय (प्रारब्ध आदि)-का अवलम्बन करके बैठ नहीं रहता ।। ५१ ½ ।।

एवं निर्वेदमादत्ते पापं कर्म जहाति च ।। ५२ ।।
धार्मिकश्चापि भवति मोक्षं च लभते परम् ।

इस प्रकार वह वैराग्यको अपनाता और पापकर्मको छोड़ता जाता है। फिर सर्वथा धर्मात्मा हो जाता और अन्तमें परम मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।। ५२ ½ ।।

तपो निःश्रेयसं जन्तोस्तस्य मूलं शमो दमः ।। ५३ ।।
तेन सर्वानवाप्नोति कामान् यान् मनसेच्छति ।

जीवके कल्याणका साधन है तप और उसका मूल है शम (मनोनिग्रह) तथा दम (इन्द्रियसंयम)। मनुष्य मनके द्वारा जिन-जिन अभीष्ट पदार्थोंको पाना चाहता है उन सबको वह उस तपके द्वारा प्राप्त कर लेता है ।। ५३ ½ ।।

इन्द्रियाणां निरोधेन सत्येन च दमेन च ।
ब्रह्मणः पदमाप्नोति यत् परं द्विजसत्तम ।। ५४ ।।

द्विजश्रेष्ठ! इन्द्रियसंयम, सत्यभाषण और मनोनिग्रह—इनके द्वारा मनुष्य ब्रह्मके परमपदको प्राप्त कर लेता है ।।

ब्राह्मण उवाच

इन्द्रियाणि तु यान्याहुः कानि तानि यतव्रत ।
निग्रहश्च कथं कार्यो निग्रहस्य च किं फलम् ।। ५५ ।।

ब्राह्मणने पूछा—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले व्याध! जिन्हें इन्द्रिय कहते हैं, वे कौन-कौन हैं? उनका निग्रह कैसे करना चाहिये? और उस निग्रहका फल क्या है? ।। ५५ ।।

कथं च फलमाप्नोति तेषां धर्मभृतां वर ।
एतदिच्छामि तत्त्वेन धर्मं ज्ञातुं निबोध मे ।। ५६ ।।

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ व्याध! उन इन्द्रियोंके निग्रहका फल कैसे प्राप्त होता है? मैं इस इन्द्रिय-निग्रहरूपी धर्मको यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ। तुम मुझे समझाओ ।। ५६ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २०९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मण-व्याध-संवादविषयक दो सौ नौवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २०९ ।।

* कर्णपर्वके उनहत्तरवें अध्यायमें छियालीसवेंसे तिरपनवें श्लोकोंमें एक कथा आती है। कौशिक नामका एक तपस्वी ब्राह्मण था। उसने यह व्रत ले लिया कि 'मैं सदा सत्य बोलूँगा।' एक दिन कुछ लोग लुटेरोंके भयसे छिपनेके लिये उसके आश्रमके पासके वनमें घुस गये। खोज करते हुए लुटेरोंने सत्यवादी कौशिकसे पूछा। उनके पूछनेपर कौशिकने सच्ची बात कह दी। पता लग जानेपर उन निर्दयी डाकुओंने उन लोगोंको पकड़कर मार डाला। इस प्रकार सत्य बोलनेके कारण लोगोंकी हिंसा हो जानेसे उस पापके फलस्वरूप कौशिकको नरक जाना पड़ा।

* धर्मकी गति सूक्ष्म होनेके कारण देखनेमें विपरीतता दीखती है; किंतु वास्तवमें वह पूर्वकृत कर्मोंका फल है।

दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

विषयसेवनसे हानि, सत्संगसे लाभ और ब्राह्मी विद्याका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्तस्तु विप्रेण धर्मव्याधो युधिष्ठिर ।
प्रत्युवाच यथा विप्रं तच्छृणुष्व नराधिप ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजा युधिष्ठिर! ब्राह्मणके इस प्रकार पूछनेपर धर्मव्याधने उसे जैसा उत्तर दिया था, वह सब सुनाता हूँ, सुनो ।। १ ।।

व्याध उवाच

विज्ञानार्थं मनुष्याणां मनः पूर्वं प्रवर्तते ।
तत् प्राप्य कामं भजते क्रोधं च द्विजसत्तम ।। २ ।।

धर्मव्याधने कहा—द्विजश्रेष्ठ! इन्द्रियोंद्वारा किसी विषयका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये सबसे पहले मनुष्योंका मन प्रवृत्त होता है। उस विषयको प्राप्त कर लेनेपर मनका उसके प्रति राग या द्वेष हो जाता है ।। २ ।।

ततस्तदर्थं यतते कर्म चारभते महत् ।
इष्टानां रूपगन्धानामभ्यासं च निषेवते ।। ३ ।।

जब किसी विषयमें राग होता है, तब मनुष्य उसे पानेके लिये प्रयत्नशील होता है और उसके लिये बड़े-बड़े कार्योंका आरम्भ करता है। जब वे अभीष्ट रूप, गन्ध आदि विषय प्राप्त हो जाते हैं, तब वह उनका बारंबार सेवन करता है ।। ३ ।।

ततो रागः प्रभवति द्वेषश्च तदनन्तरम् ।
ततो लोभः प्रभवति मोहश्च तदनन्तरम् ।। ४ ।।

उनके सेवनसे विषयोंके प्रति उत्कट राग प्रकट होता है। फिर उसकी प्रतिकूलतामें द्वेष होता है; द्वेषके अनन्तर अभीष्ट वस्तुके प्रति लोभका प्रादुर्भाव होता है। तत्पश्चात् बुद्धिपर मोह छा जाता है ।। ४ ।।

ततो लोभाभिभूतस्य रागद्वेषहतस्य च ।
न धर्मे जायते बुद्धिर्व्याजाद् धर्मं करोति च ।। ५ ।।

इस प्रकार लोभसे आक्रान्त और राग-द्वेषसे पीड़ित मनुष्यकी बुद्धि धर्ममें नहीं लगती। यदि वह धर्म करता भी है तो कोई बहाना लेकर ।। ५ ।।

व्याजेन चरते धर्ममर्थं व्याजेन रोचते ।
व्याजेन सिध्यमानेषु धनेषु द्विजसत्तम ।। ६ ।।

तत्रैव रमते बुद्धिस्ततः पापं चिकीर्षति ।

जो किसी बहानेसे धर्माचरण करता है, वह वास्तवमें धर्मकी आड़ लेकर धन चाहता है। द्विजश्रेष्ठ! जब धर्मके बहानेसे धनकी प्राप्ति होने लगती है, तब उसकी बुद्धि उसीमें रम जाती है और उसके मनमें पापकी इच्छा जाग उठती है ।। ६ $\frac{१}{२}$ ।।

सुहृद्भिर्वार्यमाणश्च पण्डितैश्च द्विजोत्तम ।। ७ ।।
उत्तरं श्रुतिसम्बद्धं ब्रवीत्यश्रुतियोजितम् ।

विप्रवर! जब उसे हितैषी मित्र तथा विद्वान् पुरुष ऐसा करनेसे रोकते हैं, तब वह उसके समर्थनमें अशास्त्रीय उत्तर देते हुए भी उसे वेद-प्रतिपादित बताता है ।। ७ $\frac{१}{२}$ ।।

अधर्मस्त्रिविधस्तस्य वर्तते रागदोषजः ।। ८ ।।
पापं चिन्तयते चैव ब्रवीति च करोति च ।
तस्याधर्मप्रवृत्तस्य गुणा नश्यन्ति साधवः ।। ९ ।।

रागरूपी दोषके कारण उसके द्वारा तीन प्रकारके अधर्म होने लगते हैं—१. वह मनसे पापका चिन्तन करता है, २. वाणीसे पापकी ही बात बोलता है और ३. क्रियाद्वारा भी पापका ही आचरण करता है। इस प्रकार अधर्ममें लग जानेपर उसके सभी अच्छे गुण नष्ट हो जाते हैं ।। ८-९ ।।

एकशीलैश्च मित्रत्वं भजन्ते पापकर्मिणः ।
स तेन दुःखमाप्नोति परत्र च विपद्यते ।। १० ।।

वह अपने ही-जैसे स्वभाववाले पापपरायण मनुष्योंसे मित्रता स्थापित कर लेता है। उस पापसे इस लोकमें तो दुःख होता ही है, परलोकमें भी उसे बड़ी विपत्ति भोगनी पड़ती है ।। १० ।।

पापात्मा भवति ह्येवं धर्मलाभं तु मे शृणु ।
यस्त्वेतान् प्रज्ञया दोषान् पूर्वमेवानुपश्यति ।। ११ ।।
कुशलः सुखदुःखेषु साधूंश्चाप्युपसेवते ।
तस्य साधुसमारम्भाद् बुद्धिर्धर्मेषु राजते ।। १२ ।।

इस प्रकार मनुष्य पापात्मा हो जाता है। अब धर्मकी प्राप्ति कैसे होती है, इसको मुझसे सुनो। जो दुःख और सुखके विवेचनमें कुशल है वह अपनी बुद्धि इन विषयसम्बन्धी दोषोंको पहले ही समझ लेता है। अतः उनसे दूर हटकर श्रेष्ठ पुरुषोंका संग करता है और उस श्रेष्ठसंगसे उसकी बुद्धि धर्ममें लग जाती है ।। ११-१२ ।।

ब्राह्मण उवाच

ब्रवीषि सूनृतं धर्म्यं यस्य वक्ता न विद्यते ।
दिव्यप्रभावः सुमहानृषिरेव मतोऽसि मे ।। १३ ।।

ब्राह्मण बोला—धर्मव्याध! तुम धर्मके विषयमें बड़ी मधुर और प्रिय बातें कह रहे हो। इन बातोंको बतानेवाला दूसरा कोई नहीं है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि तुम कोई दिव्य प्रभावसे सम्पन्न महान् ऋषि ही हो ।। १३ ।।

व्याध उवाच

ब्राह्मणा वै महाभागाः पितरोऽग्रभुजः सदा ।
तेषां सर्वात्मना कार्यं प्रियं लोके मनीषिणा ।। १४ ।।

धर्मव्याधने कहा—ब्रह्मन्! महाभाग ब्राह्मण और पितर ये सदा प्रथम भोजनके अधिकारी माने गये हैं। अतः बुद्धिमान् पुरुषको इस लोकमें सब प्रकारसे उनका प्रिय करना चाहिये ।। १४ ।।

यत् तेषां च प्रियं तत् ते वक्ष्यामि द्विजसत्तम ।
नमस्कृत्वा ब्राह्मणेभ्यो बाह्मीं विद्यां निबोध मे ।। १५ ।।

विप्रवर! उन ब्राह्मणोंको नमस्कार करके उनके लिये जो प्रिय वस्तु है, उसका वर्णन करता हूँ। तुम मुझसे ब्राह्मी विद्या श्रवण करो ।। १५ ।।

इदं विश्वं जगत् सर्वमजय्यं चापि सर्वशः ।
महाभूतात्मकं ब्रह्म नातः परतरं भवेत् ।। १६ ।।

पञ्चमहाभूतोंसे बना हुआ यह सम्पूर्ण चराचर जगत् सब प्रकारसे अजेय ब्रह्मस्वरूप है। ब्रह्मसे उत्कृष्ट दूसरी कोई वस्तु नहीं है ।। १६ ।।

महाभूतानि खं वायुरग्निरापस्तथा च भूः ।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ।। १७ ।।

आकाश, वायु अग्नि, जल तथा पृथिवी—ये पाँच महाभूत हैं तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये क्रमशः उनके विशेष गुण हैं ।। १७ ।।

तेषामपि गुणाः सर्वे गुणवृत्तिः परस्परम् ।
पूर्वपूर्वगुणाः सर्वे क्रमशो गुणिषु त्रिषु ।। १८ ।।

उन शब्द आदि गुणोंके भी अनेक गुण-भेद हैं, क्योंकि इन गुणोंका परस्पर संक्रमण भी देखा जाता है। पहले-पहलेके सभी गुण क्रमशः बादवाले तीन गुणवान् भूतों (अग्नि, जल और पृथ्वी)-में उपलब्ध होते हैं, अर्थात् अग्निमें शब्द, स्पर्श और रूप; जलमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस तथा पृथ्वीमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पाये जाते हैं ।। १८ ।।

षष्ठस्तु चेतना नाम मन इत्यभिधीयते ।
सप्तमी तु भवेद् बुद्धिरहंकारस्ततः परम् ।। १९ ।।

इन पाँच भूतोंके अतिरिक्त छठा तत्त्व है चित्त; इसीको मन कहते हैं। सातवाँ तत्त्व बुद्धि है और उसके बाद आठवाँ अहंकार है ।। १९ ।।

इन्द्रियाणि च पञ्चात्मा रजः सत्त्वं तमस्तथा ।

इत्येष सप्तदशको राशिरव्यक्तसंज्ञकः ।। २० ।।

इनके सिवा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राण और सत्त्व, रज, तम—इन सत्रह तत्त्वोंका समूह अव्यक्त कहलाता है ।। २० ।।

सर्वैरिहेन्द्रियार्थैस्तु व्यक्ताव्यक्तैः सुसंवृतैः ।
चतुर्विंशक इत्येष व्यक्ताव्यक्तमयो गुणः ।
एतत् ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ।। २१ ।।

पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा मन और बुद्धिके जो व्यक्त और अव्यक्त विषय हैं, जो बुद्धिरूपी गुहामें छिपे रहते हैं, उन्हें सम्मिलित करनेसे चौबीस तत्त्व होते हैं। इन तत्त्वोंका समुदाय ही व्यक्त और अव्यक्तरूप गुण है। (यह सब-का-सब ब्रह्मस्वरूप है।) ब्राह्मण! इस प्रकार ये सब बातें मैंने तुम्हें बतायी हैं, अब और क्या सुनना चाहते हो? ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणमाहात्म्ये दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २१० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मणमाहात्म्यविषयक दो सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २१० ।।

एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

पञ्चमहाभूतोंके गुणोंका और इन्द्रियनिग्रहका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्तः स विप्रस्तु धर्मव्याधेन भारत ।
कथामकथयद् भूयो मनसः प्रीतिवर्धनीम् ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भरतनन्दन! धर्मव्याधके इस प्रकार उपदेश देनेपर कौशिक ब्राह्मणने पुनः मनकी प्रसन्नताको बढ़ानेवाली वार्ता प्रारम्भ की ।। १ ।।

ब्राह्मण उवाच

महाभूतानि यान्याहुः पञ्च धर्मभृतां वर ।
एकैकस्य गुणान् सम्यक् पञ्चानामपि मे वद ।। २ ।।

ब्राह्मण बोला—धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ व्याध! जो पाँच महाभूत कहे जाते हैं, उन पाँचोंमेंसे प्रत्येकके गुणोंका मुझसे भलीभाँति वर्णन करो ।। २ ।।

व्याध उवाच

भूमिरापस्तथा ज्योतिर्वायुराकाशमेव च ।
गुणोत्तराणि सर्वाणि तेषां वक्ष्यामि ते गुणान् ।। ३ ।।

धर्मव्याधने कहा—ब्रह्मन्! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये सब पूर्व-पूर्ववाले तत्त्व अपनेसे उत्तर-उत्तरवालोंके गुणोंसे युक्त हैं। मैं उनके गुणोंका वर्णन करता हूँ ।। ३ ।।

भूमिः पञ्चगुणा ब्रह्मन्नुदकं च चतुर्गुणम् ।
गुणास्त्रयस्तेजसि च त्रयश्चाकाशवातयोः ।। ४ ।।

विप्रवर! पृथ्वीमें पाँच गुण हैं, जल चार गुणोंसे युक्त है, तेजमें तीन गुण होते हैं, वायुमें दो और आकाशमें एक गुण है ।। ४ ।।

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
एते गुणाः पञ्च भूमेः सर्वेभ्यो गुणवत्तरा ।। ५ ।।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये भूमिके पाँच गुण हैं। इस प्रकार भूमि अन्य सब भूतोंकी अपेक्षा अधिक गुणवती है ।। ५ ।।

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसश्चापि द्विजोत्तम ।
अपामेते गुणा ब्रह्मन् कीर्तितास्तव सुव्रत ।। ६ ।।

द्विजश्रेष्ठ! शब्द, स्पर्श, रूप और रस—ये चार जलके गुण हैं। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मण! इनका वर्णन पहले भी आपसे किया गया है ।। ६ ।।

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च तेजसोऽथ गुणास्त्रयः ।
शब्दः स्पर्शश्च वायौ तु शब्दश्चाकाश एव तु ।। ७ ।।

शब्द, स्पर्श तथा रूप—ये तेजके तीन गुण हैं, शब्द और स्पर्श—ये दो गुण वायुके हैं तथा आकाशमें एक ही गुण है—शब्द ।। ७ ।।

एते पञ्चदश ब्रह्मन् गुणा भूतेषु पञ्चसु ।
वर्तन्ते सर्वभूतेषु येषु लोकाः प्रतिष्ठिताः ।। ८ ।।

ब्रह्मन्! इस प्रकार पाँचों भूतोंमें ये पंद्रह गुण बताये गये हैं। इन्हींमें सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं ।। ८ ।।

अन्योन्यं नातिवर्तन्ते सम्यक् च भवति द्विज ।
यदा तु विषमं भावमाचरन्ति चराचराः ।। ९ ।।
तदा देही देहमन्यं व्यतिरोहति कालतः ।
आनुपूर्व्या विनश्यन्ति जायन्ते चानुपूर्वशः ।। १० ।।

विप्रवर! ये पाँच भूत एक-दूसरेके बिना नहीं रह सकते। परस्पर मिलकर ही भलीभाँति प्रकाशित होते हैं। जिस समय व्यक्त और अव्यक्त पाँचों भूत विषम-भावको प्राप्त होते हैं, उस समय यह जीव कालकी प्रेरणासे अपने संकल्पानुसार दूसरे शरीरको प्राप्त हो जाता है। ये पाँचों भूत मृत्युकालमें प्रतिलोमक्रमसे विलीन हो जाते हैं और उत्पत्तिकालमें अनुलोमक्रमसे उत्पन्न होते हैं ।। ९-१० ।।

तत्र तत्र हि दृश्यन्ते धातवः पाञ्चभौतिकाः ।
यैरावृतमिदं सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ।। ११ ।।

विभिन्न शरीरोंमें जितने रक्त आदि धातु दिखायी देते हैं, वे सब पाँच भूतोंके ही परिणाम हैं, जिनसे यह समस्त चराचर जगत् व्याप्त है ।। ११ ।।

इन्द्रियैः सृज्यते यद् यत् तत् तद् व्यक्तमिति स्मृतम् ।
तदव्यक्तमिति ज्ञेयं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम् ।। १२ ।।

बाह्य इन्द्रियोंसे जिस-जिसका संसर्ग होता है, वह-वह व्यक्त माना गया है; परंतु जो विषय इन्द्रियग्राह्य नहीं है, केवल अनुमानसे जाना जाता है, उसे अव्यक्त समझना चाहिये ।। १२ ।।

यथास्वं ग्राहकाण्येषां शब्दादीनामिमानि तु ।
इन्द्रियाणि यदा देही धारयन्निव तप्यते ।। १३ ।।

अपने-अपने विषयोंका अतिक्रमण न करके इन शब्द आदि विषयोंको ग्रहण करनेवाली इन इन्द्रियोंको जब आत्मा अपने वशमें करता है, तब मानो वह तपस्या करता है ।। १३ ।।

लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि पश्यति ।
परावरज्ञो यः शक्तः स तु भूतानि पश्यति ।। १४ ।।

वह सम्पूर्ण लोकोंमें अपनेको व्याप्त और अपनेमें सम्पूर्ण लोकोंको स्थित देखता है। इस प्रकार जो निर्गुण ब्रह्मको जाननेवाला समर्थ ज्ञानी पुरुष है, वह सम्पूर्ण भूतोंको आत्मरूपसे देखता है ।। १४ ।।

पश्यतः सर्वभूतानि सर्वावस्थासु सर्वदा ।
ब्रह्मभूतस्य संयोगो नाशुभेनोपपद्यते ।। १५ ।।

सब अवस्थाओंमें सदा समस्त भूतोंको आत्मरूपसे देखनेवाले उस ब्रह्मस्वरूप ज्ञानीका कभी भी अशुभ कर्मोंसे सम्पर्क होना सम्भव नहीं है ।। १५ ।।

अज्ञानमूलं तं क्लेशमतिवृत्तस्य पौरुषम् ।
लोकवृत्तिप्रकाशेन ज्ञानमार्गेण गम्यते ।। १६ ।।

उस (पूर्वोक्त) अज्ञानजनित क्लेशसे जो पार हो गया है, उस महापुरुषका प्रभाव उसके द्वारा की जानेवाली लौकिक चेष्टाओंसे ज्ञानमार्गके द्वारा जाना जा सकता है ।। १६ ।।

अनादिनिधनं जन्तुमात्मयोनिं सदाव्ययम् ।
अनौपम्यममूर्तं च भगवानाह बुद्धिमान् ।। १७ ।।

बुद्धिमान् भगवान् ब्रह्माने (अपने निःश्वासभूत वेदोंके द्वारा) मुक्त जीवको आदि-अन्तसे रहित, स्वयम्भू, अविकारी, अनुपम तथा निराकार बताया है ।। १७ ।।

तपोमूलमिदं सर्वं यन्मां विप्रानुपृच्छसि ।
इन्द्रियाण्येव संयम्य तपो भवति नान्यथा ।। १८ ।।

विप्रवर! आप मुझसे जो कुछ पूछते हैं, उसके उत्तरमें मैं यह बता रहा हूँ कि इस सबका मूल तप है। इन्द्रियोंका संयम करनेसे ही वह तपस्या सम्पन्न होती है, और किसी प्रकारसे नहीं ।। १८ ।।

इन्द्रियाण्येव तत् सर्वं यत् स्वर्गनरकावुभौ ।
निगृहीतविसृष्टानि स्वर्गाय नरकाय च ।। १९ ।।

स्वर्ग और नरक आदि जो कुछ भी है, वह सब इन्द्रियाँ ही हैं, अर्थात् इन्द्रियाँ ही उनकी कारण हैं। वशमें की हुई इन्द्रियाँ स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाली हैं और जिन्हें विषयोंकी ओर खुला छोड़ दिया गया है, वे इन्द्रियाँ नरकमें डालनेवाली हैं ।। १९ ।।

एष योगविधिः कृत्स्नो यावदिन्द्रियधारणम् ।
एतन्मूलं हि तपसः कृत्स्नस्य नरकस्य च ।। २० ।।

योगका सम्पूर्णरूपसे अनुष्ठान यही है कि मनसहित समस्त इन्द्रियोंको काबूमें रखा जाय। यही सारी तपस्याका मूल है, और इन्द्रियोंको वशमें न रखना ही नरकका हेतु है ।।

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमार्च्छन्त्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं समाप्नुयात् ।। २१ ।।

इन्द्रियोंके संसर्गसे ही मनुष्य निःसंदेह दुर्गुण-दुराचार आदि दोषोंको प्राप्त होते हैं। उन्हीं इन्द्रियोंको अच्छी तरह वशमें कर लेनेपर उन्हें सर्वथा सिद्धि प्राप्त हो सकती है ।। २१ ।।

षण्णामात्मनि नित्यानामैश्वर्यं योऽधिगच्छति ।
न स पापैः कुतोऽनर्थैर्युज्यते विजितेन्द्रियः ।। २२ ।।

जो अपने शरीरमें ही सदा विद्यमान रहनेवाले मनसहित छहों इन्द्रियोंपर अधिकार पा लेता है वह जितेन्द्रिय पुरुष पापोंमें नहीं लगता। फिर पापजनित अनर्थोंसे तो उसका संयोग ही कैसे हो सकता है? ।।

रथः शरीरं पुरुषस्य दृष्ट-
मात्मा नियन्तेन्द्रियाण्याहुरश्वान् ।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वै-
र्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः ।। २३ ।।

पुरुषका यह प्रत्यक्ष देखनेमें आनेवाला स्थूल शरीर रथ है। आत्मा (बुद्धि) सारथि है और इन्द्रियोंको अश्व बताया गया है। जैसे कुशल, सावधान एवं धीर रथी उत्तम घोड़ोंको अपने वशमें रखकर उनके द्वारा सुखपूर्वक मार्ग तै करता है, उसी प्रकार सावधान, धीर एवं साधन-कुशल पुरुष इन्द्रियोंको वशमें करके सुखसे जीवन-यात्रा पूर्ण करता है ।। २३ ।।

षण्णामात्मनि युक्तानामिन्द्रियाणां प्रमाथिनाम् ।
यो धीरो धारयेद् रश्मीन् स स्यात् परमसारथिः ।। २४ ।।

जो धीर पुरुष अपने शरीरमें नित्य विद्यमान छः प्रमथनशील इन्द्रियरूपी अश्वोंकी बागडोर सँभालता है, वही उत्तम सारथि हो सकता है ।। २४ ।।

इन्द्रियाणां प्रसृष्टानां हयानामिव वर्त्मसु ।
धृतिं कुर्वीत सारथ्ये धृत्या तानि जयेद् ध्रुवम् ।। २५ ।।

सड़कपर दौड़नेवाले घोड़ोंकी तरह विषयोंमें विचरनेवाली इन इन्द्रियोंको वशमें करनेके लिये धैर्यपूर्वक प्रयत्न करे। धैर्यपूर्वक उद्योग करनेवालेको उनपर अवश्य विजय प्राप्त होती है ।। २५ ।।

इन्द्रियाणां विचरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरते बुद्धिं नावं वायुरिवाम्भसि ।। २६ ।।

जैसे जलमें चलनेवाली नावको वायु हर लेती है, वैसे ही विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस इन्द्रियके साथ रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुषकी बुद्धिको हर लेती है ।। २६ ।।

येषु विप्रतिपद्यन्ते षट्सु मोहात् फलागमम् ।
तेष्वध्यवसिताध्यायी विन्दते ध्यानजं फलम् ।। २७ ।।

सभी मनुष्य इन छः इन्द्रियोंके शब्द आदि विषयोंमें उनसे प्राप्त होनेवाले सुखरूप फल पानेके सम्बन्धमें मोहसे संशयमें पड़ जाते हैं। परंतु जो उनके दोषोंका अनुसंधान करनेवाला वीतराग पुरुष है, वह उनका निग्रह करके ध्यानजनित आनन्दका अनुभव करता है ।। २७ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २११ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मण-व्याध-संवादविषयक दो सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २११ ।।

द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

तीनों गुणोंके स्वरूप और फलका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

एवं तु सूक्ष्मे कथिते धर्मव्याधेन भारत ।
ब्राह्मणः स पुनः सूक्ष्मं पप्रच्छ सुसमाहितः ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भारत! इस प्रकार धर्मव्याधके द्वारा सूक्ष्म तत्त्वका निरूपण होनेपर कौशिक ब्राह्मणने एकाग्रचित्त होकर पुनः एक सूक्ष्म प्रश्न उपस्थित किया ।। १ ।।

ब्राह्मण उवाच

सत्त्वस्य रजसश्चैव तमसश्च यथातथम् ।
गुणांस्तत्त्वेन मे ब्रूहि यथावदिह पृच्छतः ।। २ ।।

ब्राह्मण बोला—व्याध! मैं यहाँ यथोचितरूपसे एक प्रश्न उपस्थित करता हूँ। वह यह है कि सत्त्व, रज और तमका गुण (स्वरूप) क्या है? यह मुझे यथार्थरूपसे बताओ ।। २ ।।

व्याध उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
एषां गुणान् पृथक्त्वेन निबोध गदतो मम ।। ३ ।।

धर्मव्याधने कहा—ब्रह्मन्! आप मुझसे जो बात पूछ रहे हैं, मैं अब उसे कहूँगा। सत्त्व, रज और तम—इन तीनोंके गुणोंका पृथक्-पृथक् वर्णन करता हूँ, सुनिये ।। ३ ।।

मोहात्मकं तमस्तेषां रज एषां प्रवर्तकम् ।
प्रकाशबहुलत्वाच्च सत्त्वं ज्याय इहोच्यते ।। ४ ।।

इन तीनों गुणोंमें जो तमोगुण है वह मोहात्मक—मोह उत्पन्न करनेवाला है। रजोगुण कर्मोंमें प्रवृत्त करनेवाला है। परंतु सत्त्वगुणमें प्रकाशकी बहुलता है, इसलिये वह सबसे श्रेष्ठ कहा जाता है ।। ४ ।।

अविद्याबहुलो मूढः स्वप्नशीलो विचेतनः ।
दुर्हृषीकस्तमोध्वस्तः सक्रोधस्तामसोऽलसः ।। ५ ।।

जिसमें अज्ञानकी बहुलता है, जो मूढ़ (मोहग्रस्त) और अचेत होकर सदा नींद लेता रहता है, जिसकी इन्द्रियाँ वशमें न होनेके कारण दूषित हैं, जो अविवेकी, क्रोधी और आलसी है, ऐसे मनुष्यको तमोगुणी जानना चाहिये ।। ५ ।।

प्रवृत्तवाक्यो मन्त्री च यो नराग्रयोऽनसूयकः ।
विधित्समानो विप्रर्षे स्तब्धो मानी स राजसः ।। ६ ।।

ब्रह्मर्षे! जो प्रवृत्तिमार्गकी ही बातें करनेवाला, सलाह देनेमें कुशल और दूसरोंके गुणोंमें दोष न देखनेवाला है; जो सदा कुछ-न-कुछ करनेकी इच्छा रखता है, जिसमें कठोरता और अभिमानकी अधिकता है, वह मनुष्योंपर रोब जमानेवाला पुरुष रजोगुणी कहा गया है ।। ६ ।।

प्रकाशबहुलो धीरो निर्विधित्सोऽनसूयकः ।
अक्रोधनो नरो धीमान् दान्तश्चैव स सात्त्विकः ।। ७ ।।

जिसमें प्रकाश (ज्ञान)-की बहुलता है, जो धीर और नये-नये कार्य आरम्भ करनेकी उत्सुकतासे रहित है, जिसमें दूसरोंके दोष देखनेकी प्रवृत्तिका अभाव है जो क्रोधशून्य, बुद्धिमान् और जितेन्द्रिय है, वह मनुष्य सात्त्विक माना जाता है ।। ७ ।।

सात्त्विकस्त्वथ सम्बुद्धो लोकवृत्तेन क्लिश्यते ।
यदा बुध्यति बोद्धव्यं लोकवृत्तं जुगुप्सते ।। ८ ।।

सात्त्विक पुरुष ज्ञानसम्पन्न हो रजोगुण और तमोगुणके कार्यभूत लौकिक व्यवहारमें पड़नेका कष्ट नहीं उठाता। वह जब जाननेयोग्य तत्त्वको जान लेता है, तब उसे सांसारिक व्यवहारसे ग्लानि हो जाती है ।। ८ ।।

वैराग्यस्य च रूपं तु पूर्वमेव प्रवर्तते ।
मृदुर्भवत्यहङ्कारः प्रसीदत्यार्जवं च यत् ।। ९ ।।

सात्त्विक पुरुषमें वैराग्यका लक्षण पहले ही प्रकट हो जाता है। उसका अहंकार ढीला पड़ जाता है और सरलता प्रकाशमें आने लगती है ।। ९ ।।

ततोऽस्य सर्वद्वन्द्वानि प्रशाम्यन्ति परस्परम् ।
न चास्य संशयो नाम क्वचिद् भवति कश्चन ।। १० ।।

तदनन्तर इसके राग-द्वेष आदि सम्पूर्ण द्वन्द्व परस्पर शान्त हो जाते हैं। इसके हृदयमें कभी कोई संशय नहीं उठता ।। १० ।।

शूद्रयोनौ हि जातस्य सद्गुणानुपतिष्ठतः ।
वैश्यत्वं लभते ब्रह्मन् क्षत्रियत्वं तथैव च ।। ११ ।।

ब्रह्मन्! शूद्रयोनिमें उत्पन्न मनुष्य भी यदि उत्तम गुणोंका आश्रय ले, तो वह वैश्य तथा क्षत्रियभावको प्राप्त कर लेता है ।। ११ ।।

आर्जवे वर्तमानस्य ब्राह्मण्यमभिजायते ।
गुणास्ते कीर्तिताः सर्वे किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ।। १२ ।।

जो 'सरलता' नामक गुणमें प्रतिष्ठित है, उसे ब्राह्मणत्व प्राप्त हो जाता है। ब्रह्मन्! इस प्रकार मैंने आपसे सम्पूर्ण गुणोंका वर्णन किया है, अब और क्या सुनना चाहते हैं? ।। १२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २१२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मण-व्याध-संवादविषयक दो सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २१२ ।।

त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

प्राणवायुकी स्थितिका वर्णन तथा परमात्म-साक्षात्कारके उपाय

ब्राह्मण उवाच

पार्थिवं धातुमासाद्य शारीरोऽग्निः कथं भवेत् ।
अवकाशविशेषेण कथं वर्तयतेऽनिलः ।। १ ।।

ब्राह्मणने पूछा—व्याध! शरीरमें रहनेवाला अग्निस्वरूप प्राण पार्थिव धातुका अवलम्बन करके कैसे रहता है? और प्राणवायु नाड़ियोंके मार्गविशेषके द्वारा किस प्रकार (रस-रक्तादिका) संचालन करता है? ।। १ ।।

मार्कण्डेय उवाच

प्रश्नमेतं समुद्दिष्टं ब्राह्मणेन युधिष्ठिर ।
व्याधस्तु कथयामास ब्राह्मणाय महात्मने ।। २ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! ब्राह्मणके द्वारा उपस्थित किये गये इस प्रश्नको सुनकर धर्मव्याधने उन महामना ब्राह्मणसे इस प्रकार कहा— ।। २ ।।

व्याध उवाच

मूर्धानमाश्रितो वह्निः शरीरं परिपालयन् ।
प्राणो मूर्धनि चाग्नौ च वर्तमानो विचेष्टते ।। ३ ।।

धर्मव्याध बोला—ब्रह्मन्! प्राणीके शरीरको सुरक्षित रखता हुआ अग्निस्वरूप उदान वायु मस्तकका आश्रय लेकर शरीरमें रहता है एवं मुख्य प्राण मस्तक और उदानवायु—इन दोनोंमें स्थित हुआ समस्त शरीरमें जीवनका संचार करता है[1] ।। ३ ।।

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं प्राणे प्रतिष्ठितम् ।
श्रेष्ठं तदेव भूतानां ब्रह्मयोनिमुपास्महे ।। ४ ।।

भूत, वर्तमान और भविष्य—सब कुछ प्राणके ही आश्रित है, वह प्राण ही समस्त भूतोंमें श्रेष्ठ है।[2] अतः परब्रह्मसे उत्पन्न होनेवाले प्राणकी हम सब उपासना करते हैं[3] ।। ४ ।।

स जन्तुः सर्वभूतात्मा पुरुषः स सनातनः ।
महान् बुद्धिरहङ्कारो भूतानां विषयश्च सः ।। ५ ।।

वह प्राण ही जीव है, वही समस्त प्राणियोंका आत्मा है, वही सनातन पुरुष है, महत्तत्त्व, बुद्धि और अहंकार तथा पाँचों भूतोंके कार्यरूप इन्द्रियाँ और उनके विषय सब

कुछ वही है (क्योंकि इस शरीरमें सबकी स्थिति उसीके आश्रित है और भविष्यमें मिलनेवाले शरीरमें जाना-आना भी इसीके आश्रित रहकर होता है। इसलिये यह प्राणकी स्तुति की गयी है)[४] ।। ५ ।।

(अव्यक्तं सत्त्वसंज्ञं च जीवः कालः स चैव हि ।
प्रकृतिः पुरुषश्चैव प्राण एव द्विजोत्तम ।।
जागर्ति स्वप्नकाले च स्वप्ने स्वप्नायते च सः ।

द्विजश्रेष्ठ! प्राण ही अव्यक्त, सत्त्व, जीव, काल, प्रकृति और पुरुष है। वही जाग्रत्-अवस्थामें जागता है। वही स्वप्नकालमें स्वप्न-जगत्का निर्माण करके स्वप्नावस्थाकी सारी चेष्टाएँ करता है ।।

जाग्रत्सु बलमाधत्ते चेष्टत्सु चेष्टयत्यपि ।।
तस्मिन् निरुद्धे विप्रेन्द्र मृत इत्यभिधीयते ।
त्यक्त्वा शरीरं भूतात्मा पुनरन्यत् प्रपद्यते ।।)

वही जाग्रत्कालमें बलका आधान करता है और चेष्टाशील प्राणियोंमें चेष्टा उत्पन्न करता है। विप्रवर! उस प्राणका निरोध हो जानेपर ही प्रत्येक जीव मरा हुआ कहलाता है। भूतात्मा प्राण एक शरीरको छोड़कर फिर दूसरे शरीरमें प्रविष्ट हो जाता है ।।

एवं त्विह स सर्वत्र प्राणेन परिपाल्यते ।
पृष्ठतस्तु समानेन स्वां स्वां गतिमुपाश्रितः ।। ६ ।।

इस प्रकार इस जगत्में सर्वत्र प्राणकी स्थिति है। प्राणके द्वारा ही सबका पालन होता है। पीछे वही प्राण जब समानवायु भावको प्राप्त होता है तब अपनी-अपनी पृथक् गतिका आश्रय लेता है ।। ६ ।।

बस्तिमूलं गुदं चैव पावकं समुपाश्रितः ।
वहन् मूत्रं पूरीषं वाऽप्यपानः परिवर्तते ।। ७ ।।

समानवायुके रूपमें जठराग्निका आश्रय ले वह प्राण जब मूत्राशय और गुदामें स्थित होता है, उस समय मल और मूत्रका भार वहन करनेके कारण वह अपानवायुके नामसे विख्यात हो संचरण करता है ।। ७ ।।

प्रयत्ने कर्मणि बले स एष त्रिषु वर्तते ।
उदानमिति तं प्राहुरध्यात्मविदुषो जनाः ।। ८ ।।

वही प्राण जब प्रयत्न (काम करनेकी चेष्टा), कर्म (उत्क्षेपण और गमन आदि) तथा बल (बोझ उठानेकी शक्ति)—इन तीन विषयोंमें प्रवृत्त होता है, तब अध्यात्मवेत्ता मनुष्य उसे उदान कहते हैं ।। ८ ।।

संधौ संधौ संनिविष्टः सर्वेष्वपि तथानिलः ।
शरीरेषु मनुष्याणां व्यान इत्युपदिश्यते ।। ९ ।।

वही जब मनुष्य-शरीरके प्रत्येक संधिस्थलमें व्याप्त होकर रहता है, तब उसे व्यान कहते हैं ।। ९ ।।

धातुष्वग्निस्तु विततः स तु वायुसमीरितः ।
रसान् धातूंश्च दोषांश्च वर्तयन् परिधावति ।। १० ।।

त्वचा आदि सब धातुओंमें जठरानल व्याप्त है। वह प्राण आदि वायुओंसे प्रेरित होकर अन्न आदि रसों, त्वचा आदि धातुओं तथा पित्त आदि दोषोंको परिपक्व करता हुआ समूचे शरीरमें दौड़ा करता है ।। १० ।।

प्राणानां संनिपातात् तु संनिपातः प्रजायते ।
ऊष्मा चाग्निरिति ज्ञेयो योऽन्नं पचति देहिनाम् ।। ११ ।।

प्राण आदि वायुओंके परस्पर मिलनेसे एक संघर्ष उत्पन्न होता है, उससे प्रकट होनेवाले उत्तापको ही जठरानल समझना चाहिये। वही देहधारियोंके खाये हुए अन्नको पचाता है ।। ११ ।।

समानोदानयोर्मध्ये प्राणापानौ समाहितौ ।
समर्थितस्त्वधिष्ठानं सम्यक् पचति पावकः ।। १२ ।।

समान और उदान वायुओंके बीचमें प्राण और अपानवायुकी स्थिति है। उनके संघर्षसे उत्पन्न जठरानल अन्नको पचाता है और उसके रससे इस शरीरको भलीभाँति पुष्ट करता है[*] ।। १२ ।।

अस्यापि पायुपर्यन्तस्तथा स्याद् गुदसंज्ञितः ।
स्रोतांसि तस्माज्जायन्ते सर्वप्राणेषु देहिनाम् ।। १३ ।।

इस जठरानलका स्थान नाभिसे लेकर पायुतक है। इसीको 'गुदा' कहते हैं। उस गुदासे देहधारियोंके समस्त प्राणोंमें स्रोत (नाडीमार्ग) प्रकट होते हैं ।। १३ ।।

अग्निवेगवहः प्राणो गुदान्ते प्रतिहन्यते ।
स ऊर्ध्वमागम्य पुनः समुत्क्षिपति पावकम् ।। १४ ।।

गुदासे प्राण अग्निके वेगको लेकर गुदान्तमें टकराता है, फिर वहाँसे ऊपरको उठकर वह जठराग्निको भी ऊपर उठाता है ।। १४ ।।

पक्वाशयस्त्वधो नाभ्यामूर्ध्वमामाशयः स्थितः ।
नाभिमध्ये शरीरस्य प्राणाः सर्वे प्रतिष्ठिताः ।। १५ ।।

नाभिके नीचे पक्वाशय (पके हुए भोजनका स्थान) है और ऊपर आमाशय (कच्चे भोजनका स्थान) है। शरीरमें स्थित समस्त प्राण नाभिमें ही प्रतिष्ठित हैं—वही उनका केन्द्रस्थान है ।। १५ ।।

प्रवृत्ता हृदयात् सर्वे तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।
वहन्त्यन्नरसान् नाड्यो दशप्राणप्रचोदिताः ।। १६ ।।

नाड़ियाँ हृदयसे नीचे-ऊपर और इधर-उधर फैली हुई हैं। वे दस प्राणवायुओंसे प्रेरित हो शरीरके सब भागोंमें अन्नके रसोंको पहुँचाती रहती हैं ।। १६ ।।

योगिनामेष मार्गस्तु येन गच्छन्ति तत् परम् ।
जितक्लमाः समा धीरा मूर्धन्यात्मानमादधुः ।
एवं सर्वेषु विततौ प्राणापानौ हि देहिषु ।। १७ ।।

जिन्होंने समस्त क्लेशोंको जीत लिया है, जो समदर्शी और धीर हैं, जिन्होंने (सुषुम्णा नाड़ीके द्वारा) अपने प्राणमय आत्माको मस्तक (वर्ती सहस्रारचक्र)-में ले जाकर स्थापित किया है, उन योगियोंके लिये यह (मस्तकसे लेकर पायुतकका सुषुम्णामय) मार्ग है, जिससे वे उस परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार समस्त जीवात्माओंके शरीरोंमें ये प्राणवायु और अपानवायु व्याप्त हैं ।। १७ ।।

(तावग्निसहितौ ब्रह्मन् विद्धि वै प्राणमात्मनि ।)
एकादशविकारात्मा कलासम्भारसम्भृतः ।
मूर्तिमन्तं हि तं विद्धि नित्यं योगजितात्मकम् ।। १८ ।।

ब्रह्मन्! वे प्राण और अपान जठरानलके साथ रहते हैं। प्राणको आत्मामें स्थित जानिये। आत्मा एकादश इन्द्रियरूप विकारोंसे युक्त, षोडश* कलाओंके समूहसे सम्पन्न, शरीरको धारण करनेवाला तथा नित्य है। उसने योगबलसे मन-बुद्धिको अपने अधीन कर रखा है। इस प्रकार आत्माके सम्बन्धमें आपको जानना चाहिये ।। १८ ।।

तस्मिन् यः संस्थितो ह्यग्निर्नित्यं स्थाल्यामिवाहितः ।
आत्मानं तं विजानीहि नित्यं योगजितात्मकम् ।। १९ ।।

जैसे बटलोईमें आग रखी गयी हो, उसी प्रकार पूर्वोक्त कला-समूहरूप शरीरमें प्रकाशस्वरूप आत्मा सदा विद्यमान रहता है। आप उसे जानिये। वह नित्य तथा योगशक्तिसे मन-बुद्धिको अपने अधीन रखनेवाला है ।। १९ ।।

देवो यः संस्थितस्तस्मिन्नब्बिन्दुरिव पुष्करे ।
क्षेत्रज्ञं तं विजानीहि नित्यं योगजितात्मकम् ।। २० ।।

जैसे कमलके पत्तेपर पड़ी हुई जलकी बूँद निर्लिप्त होती है, उसी प्रकार ये आत्मदेव कलात्मक शरीरमें असंगभावसे स्थित हैं। वे ही क्षेत्रज्ञ हैं, आप उन्हें जानिये। वे योगसे अपने मन और बुद्धिपर अधिकार प्राप्त करनेवाले तथा नित्य हैं ।। २० ।।

जीवात्मकानि जानीहि रजः सत्त्वं तमस्तथा ।
जीवमात्मगुणं विद्धि तथाऽऽत्मानं परात्मकम् ।। २१ ।।

ब्रह्मन्! आप यह जान लें कि सत्त्वगुण (प्रकाश), रजोगुण (प्रवृत्ति) और तमोगुण (मोह)—ये जीवात्मक हैं; अर्थात् जीवात्माके अन्तःकरणके विकार हैं, जीव आत्माका गुण (सेवक) है और आत्मा परमात्मस्वरूप है। भाव यह कि परमात्माको ही यहाँ आत्मा कहा गया है ।। २१ ।।

अचेतनं जीवगुणं वदन्ति
स चेष्टते चेष्टयते च सर्वम् ।
ततः परं क्षेत्रविदो वदन्ति
प्राकल्पयद् यो भुवनानि सप्त ।। २२ ।।

शरीर-तत्त्वके ज्ञाता महात्मा पुरुष जड शरीर आदिको जीवका भोग्य बताते हैं। वह जीव शरीरके भीतर रहकर स्वयं चेष्टाशील होता है तथा शरीर और इन्द्रिय आदि सबको चेष्टाओंमें लगाता है। जिन्होंने सातों भुवनोंका निर्माण किया है, उन परमात्माको ज्ञानी पुरुष जीवात्मासे उत्कृष्ट बताते हैं ।। २२ ।।

एवं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मा सम्प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया सूक्ष्मया ज्ञानवेदिभिः ।। २३ ।।

इस प्रकार सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा परमेश्वर समस्त प्राणियोंके भीतर प्रकाशित हो रहे हैं। ज्ञानी महात्मा अपनी श्रेष्ठ एवं सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा उन्हें देख पाते हैं ।। २३ ।।

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमानन्त्यमश्नुते ।। २४ ।।

मनुष्य अपने चित्तकी पवित्रताके द्वारा ही समस्त शुभाशुभ कर्मोंको नष्ट (फल देनेमें असमर्थ) कर देता है। जिसका अन्तःकरण प्रसन्न (पवित्र) है, वह अपने-आपमें ही स्थित होकर अक्षय सुख (मोक्ष)-का भागी होता है ।। २४ ।।

लक्षणं तु प्रसादस्य यथा तृप्तः सुखं स्वपेत् ।
निवाते वा यथा दीपो दीप्येत् कुशलदीपितः ।। २५ ।।

जैसे भोजन आदिसे तृप्त हुआ मनुष्य सुखसे सोता है और जैसे वायुरहित स्थानमें चतुर मनुष्यके द्वारा जलाया हुआ दीप निश्चलभावसे प्रकाशित होता है; ऐसा ही लक्षण चित्तकी पवित्रताका भी है ।। २५ ।।

पूर्वरात्रे परे चैव युञ्जानः सततं मनः ।
लघ्वाहारो विशुद्धात्मा पश्यन्नात्मानमात्मनि ।। २६ ।।
प्रदीप्तेनेव दीपेन मनोदीपेन पश्यति ।
दृष्ट्वाऽऽत्मानं निरात्मानं स तदा विप्रमुच्यते ।। २७ ।।

मनुष्यको चाहिये कि वह हलका भोजन करे और अन्तःकरणको शुद्ध रखे। रातके पहले और पिछले पहरमें सदा अपना मन परमात्माके चिन्तनमें लगावे। जो इस प्रकार निरन्तर अपने हृदयमें परमात्माके साक्षात्कारका अभ्यास करता है, वह प्रज्वलित दीपकके समान प्रकाशित होनेवाले अपने मनोमय प्रदीपके द्वारा निराकार परमेश्वरका साक्षात्कार करके तत्काल मुक्त हो जाता है ।। २६-२७ ।।

सर्वोपायैस्तु लोभस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः ।
एतत् पवित्रं लोकानां तपो वै संक्रमो मतः ।। २८ ।।

सम्पूर्ण उपायोंसे लोभ और क्रोधकी वृत्तियोंको दबाना चाहिए। संसारमें यही पवित्र तप है और यही सबके लिये भवसागरसे पार उतारनेवाला सेतु माना गया है ।। २८ ।।

नित्यं क्रोधात् तपो रक्षेद् धर्मं रक्षेच्च मत्सरात् ।
विद्यां मानापमानाभ्यामात्मानं तु प्रमादतः ।। २९ ।।

सदा तपको क्रोधसे, धर्मको द्वेषसे, विद्याको मान-अपमानसे और अपने-आपको प्रमादसे बचाना चाहिये ।। २९ ।।

आनृशंस्यं परो धर्मः क्षमा च परमं बलम् ।
आत्मज्ञानं परं ज्ञानं सत्यं व्रतपरं व्रतम् ।। ३० ।।

क्रूरताका अभाव (दया) सबसे महान् धर्म है, क्षमा सबसे बड़ा बल है, सत्य सबसे उत्तम व्रत है और परमात्माके तत्त्वका ज्ञान ही सर्वोत्तम ज्ञान है ।। ३० ।।

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यं ज्ञानं हितं भवेत् ।
यद् भूतहितमत्यन्तं तद् वै सत्यं परं मतम् ।। ३१ ।।

सत्य बोलना सदा कल्याणकारी है। यथार्थ ज्ञान ही हितकारक होता है। जिससे प्राणियोंका अत्यन्त हित होता हो उसे ही उत्तम सत्य माना गया है ।। ३१ ।।

यस्य सर्वे समारम्भा निराशीर्बन्धनाः सदा ।
त्यागे यस्य हुतं सर्वं स त्यागी स च बुद्धिमान् ।। ३२ ।।

जिसके सम्पूर्ण आयोजन कभी कामनाओंसे बँधे हुए नहीं होते तथा जिसने त्यागकी आगमें अपना सर्वस्व होम दिया है वही त्यागी और बुद्धिमान् है ।। ३२ ।।

यतो न गुरुरप्येनं श्रावयेदुपपादयेत् ।
तं विद्याद् ब्रह्मणो योगं वियोगं योगसंज्ञितम् ।। ३३ ।।

इसलिये दृश्य संसारसे वियोग करानेवाले और योग नामसे कहे जानेवाले इस ब्रह्मयोगको स्वयं जानना और सम्पादन करना चाहिये। गुरुको भी उचित है कि वह इसे अपात्र शिष्यके प्रति न सुनावे ।। ३३ ।।

न हिंस्यात् सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत् ।
नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित् ।। ३४ ।।

किसी प्राणीकी हिंसा न करे। सबमें मित्रभाव रखते हुए विचरे। इस दुर्लभ मनुष्य-जीवनको पाकर किसीके साथ वैर न करे ।। ३४ ।।

आकिञ्चन्यं सुसंतोषो निराशित्वमचापलम् ।
एतदेव परं ज्ञानं सदात्मज्ञानमुत्तमम् ।। ३५ ।।

कुछ भी संग्रह न रखना, सभी दशाओंमें अत्यन्त संतुष्ट रहना तथा कामना और लोलुपताको त्याग देना—यही परम ज्ञान है और यही सत्यस्वरूप उत्तम आत्मज्ञान है ।। ३५ ।।

परिग्रहं परित्यज्य भवेद् बुद्धया यतव्रतः ।

अशोकं स्थानमाश्रित्य निश्चलं प्रेत्य चेह च ।। ३६ ।।

इहलोक और परलोकके समस्त भोगोंका एवं सब प्रकारके संग्रहका त्याग करके शोकरहित निश्चल परमधामको लक्ष्य बनाकर बुद्धिके द्वारा मन और इन्द्रियोंका संयम करे ।। ३६ ।।

तपोनित्येन दान्तेन मुनिना संयतात्मना ।
अजितं जेतुकामेन भाव्यं सङ्गेष्वसङ्गिना ।। ३७ ।।

जो जितेन्द्रिय है, जिसने मनपर अधिकार प्राप्त कर लिया है तथा जो अजित पदको जीतनेकी इच्छा करता है, नित्य तपस्यामें संलग्न रहनेवाले उस मुनिको आसक्ति-जनक भोगोंसे अलग—अनासक्त रहना चाहिये ।। ३७ ।।

गुणागुणमनासङ्गमेककार्यमनन्तरम् ।
एतत् तद् ब्रह्मणो वृत्तमाहुरेकपदं सुखम् ।। ३८ ।।

जो गुणमें रहता हुआ भी गुणोंसे रहित है, जो सर्वथा संगसे रहित है तथा जो एकमात्र अन्तरात्माके द्वारा ही साध्य है, जिसकी उपलब्धिमें अविद्याके सिवा और कोई व्यवधान नहीं है, वही ब्रह्मका अद्वितीय नित्य सिद्ध पद है और वही (निरतिशय) सुख है ।। ३८ ।।

परित्यजति यो दुःखं सुखं चाप्युभयं नरः ।
ब्रह्म प्राप्नोति सोऽत्यन्तमसङ्गेन च गच्छति ।। ३९ ।।

जो मनुष्य दुःख और सुख दोनोंको त्याग देता है, वही अनन्त ब्रह्मपदको प्राप्त होता है। अनासक्तिके द्वारा भी उसी पदकी प्राप्ति होती है ।। ३९ ।।

यथाश्रुतमिदं सर्वं समासेन द्विजोत्तम ।
एतत् ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ।। ४० ।।

द्विजश्रेष्ठ! मैंने यह सब जैसा सुना है, वैसा सब-का-सब थोड़ेमें आपसे कह सुनाया है। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं? ।। ४० ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २१३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मणव्याधसंवादविषयक दो सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २१३ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ ½ श्लोक मिलाकर कुल ४३ ½ श्लोक हैं)

---

१. देखिये प्रश्नोपनिषद् प्रश्न ३ मन्त्र ९।
२. देखिये प्रश्नोपनिषद् २।२, ३ और उसके आगेका प्रकरण।
३. देखिये प्रश्नोपनिषद् ३।३ तथा २।७।
४. प्राणकी स्तुतिका वर्णन अथर्ववेदमें और प्रश्नोपनिषद्में बहुत आया है।

[*] तात्पर्य यह है कि हृदयमें रहनेवाला प्राण, नाभिमें रहनेवाले समानसे जाकर मिलता है। इसी तरह गुदामें रहनेवाला अपान कंठवर्ती उदानसे जा मिलता है, इस दशामें प्राण, अपान और समानका नाभिमें संघर्ष होनेसे जो अग्नि उत्पन्न होती है, उसे ही 'जठरानल' नाम दिया गया है। वही इस शरीरमें अन्नको पचाकर उसके रससे शरीरको पुष्ट करता है।

[*] प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक तथा नाम—ये सोलह कलाएँ हैं (देखिये प्रश्नोपनिषद् ६।४)।

चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

माता-पिताकी सेवाका दिग्दर्शन

मार्कण्डेय उवाच

एवं संकथिते कृत्स्ने मोक्षधर्मे युधिष्ठिर ।
दृढप्रीतमना विप्रो धर्मव्याधमुवाच ह ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! धर्मव्याधने जब इस प्रकार पूर्णरूपसे मोक्ष-धर्मका वर्णन किया, तब कौशिक ब्राह्मण अत्यन्त प्रसन्न होकर उससे यों बोला ।। १ ।।

न्याययुक्तमिदं सर्वं भवता परिकीर्तितम् ।
न तेऽस्त्यविदितं किंचिद् धर्मेष्विह हि दृश्यते ।। २ ।।

'तात! तुमने मुझसे जो कुछ कहा, यह सब न्याययुक्त है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यहाँ धर्मके विषयमें कोई ऐसी बात नहीं दिखायी देती जो तुम्हें ज्ञात न हो' ।। २ ।।

व्याध उवाच

प्रत्यक्षं मम यो धर्मस्तं च पश्य द्विजोत्तम ।
येन सिद्धिरियं प्राप्ता मया ब्राह्मणपुङ्गव ।। ३ ।।

धर्मव्याधने कहा—विप्रवर! अब मेरा जो प्रत्यक्ष धर्म है, जिसके प्रभावसे मुझे यह सिद्धि प्राप्त हुई है, ब्राह्मणश्रेष्ठ! उसका भी दर्शन कर लीजिये ।। ३ ।।

उत्तिष्ठ भगवन् क्षिप्रं प्रविश्याभ्यन्तरं गृहम् ।
द्रष्टुमर्हसि धर्मज्ञ मातरं पितरं च मे ।। ४ ।।

भगवन्! आप धर्मके ज्ञाता हैं, उठिये और शीघ्र घरके भीतर चलकर मेरे माता-पिताका दर्शन कीजिये ।। ४ ।।

मार्कण्डेय उवाच

इत्युक्तः स प्रविश्याथ ददर्श परमार्चितम् ।
सौधं हृद्यं चतुःशालमतीव च मनोरमम् ।। ५ ।।
देवतागृहसंकाशं दैवतैश्च सुपूजितम् ।
शयनासनसम्बाधं गन्धैश्च परमैर्युतम् ।। ६ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—धर्मव्याधके ऐसा कहनेपर कौशिक ब्राह्मणने भीतर प्रवेश करके देखा—एक बहुत सुन्दर साफ-सुथरा घर था, उसकी दीवारोंपर चूनेसे सफेदी की हुई थी। उसमें चार कमरे थे, वह भवन बहुत प्रिय और मनको लुभा लेनेवाला था, ऐसा जान पड़ता था, मानो देवताओंका निवासस्थान हो। देवता भी उसका आदर करते थे। एक ओर

सोनेके लिये शय्या बिछी थी और दूसरी ओर बैठनेके लिये आसन रखे गये थे। वहाँ धूप और चन्दन, केसर आदिकी उत्तम गन्ध फैल रही थी ।। ५-६ ।।

तत्र शुक्लाम्बरधरौ पितरावस्य पूजितौ ।
कृताहारौ तु संतुष्टावुपविष्टौ वरासने ।
धर्मव्याधस्तु तौ दृष्ट्वा पादेषु शिरसापतत् ।। ७ ।।

एक सुन्दर आसनपर धर्मव्याधके माता-पिता भोजन करके संतुष्ट हो बैठे हुए थे। उस दोनोंके शरीरपर श्वेत वस्त्र शोभा पा रहे थे और पुष्प, चन्दन आदिसे उनकी पूजा की गयी थी। धर्मव्याधने उन दोनोंको देखते ही चरणोंमें मस्तक रख दिया और पृथ्वीपर पड़कर साष्टांग प्रणाम किया ।। ७ ।।

वृद्धावूचतुः

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ धर्मज्ञ धर्मस्त्वामभिरक्षतु ।
प्रीतौ स्वस्तव शौचेन दीर्घमायुरवाप्नुहि ।। ८ ।।

तब बूढ़े माता-पिताने (स्नेहपूर्वक) कहा—बेटा! उठो! उठो! तुम धर्मके जानकार हो, धर्म तुम्हारी सब ओरसे रक्षा करे। हम दोनों तुम्हारे शुद्ध आचार-विचार तथा सेवासे बहुत प्रसन्न हैं। तुम्हारी आयु बड़ी हो ।। ८ ।।

गतिमिष्टां तपो ज्ञानं मेधां च परमां गतः ।

सत्पुत्रेण त्वया पुत्र नित्यं काले सुपूजितौ ।। ९ ।।

तुमने उत्तम गति, तप, ज्ञान और श्रेष्ठ बुद्धि प्राप्त की है, बेटा! तुम सुपुत्र हो। तुमने नित्य नियमपूर्वक समयानुसार हमारा पूजन—आदर-सत्कार किया है ।। ९ ।।

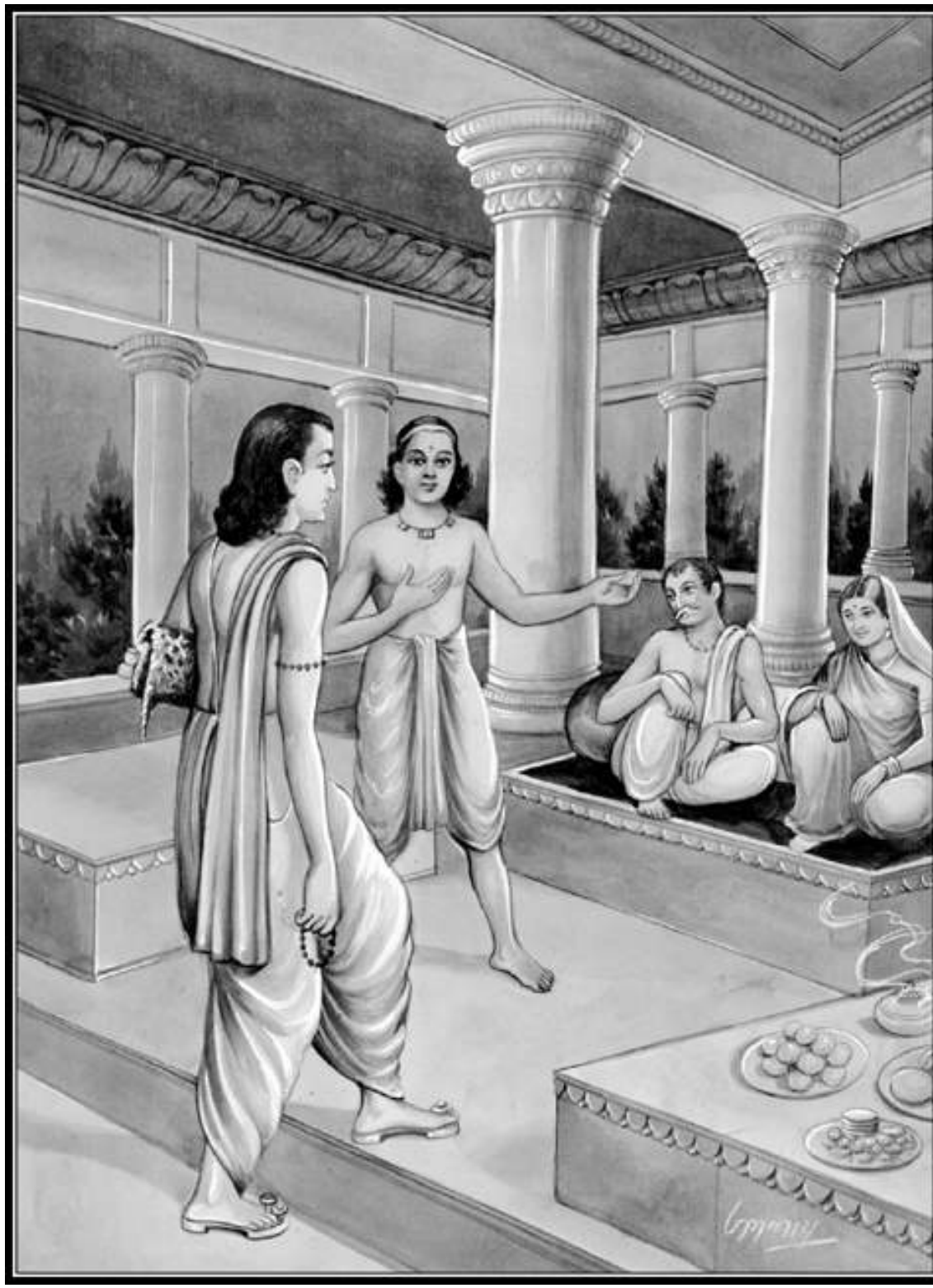

कौशिक ब्राह्मण और माता-पिताके भक्त धर्मव्याध

(सुखमावां वसावोऽत्र देवलोकगताविव)

न तेऽन्यद् दैवतं किंचिद् दैवतेष्वपि वर्तते ।
प्रयतत्वाद् द्विजातीनां दमेनासि समन्वितः ।। १० ।।

हम इस घरमें इस प्रकार सुखसे रहते हैं मानो देवलोकमें पहुँच गये हों। देवताओंमें भी तुम्हारे लिये हम दोनोंके सिवा और कोई देवता नहीं है। तुम हमें ही देवता मानते हो। अपने मनको पवित्र एवं संयममें रखनेके कारण तुम द्विजोचित शम-दमसे सम्पन्न हो ।। १० ।।

पितुः पितामहा ये च तथैव प्रपितामहाः ।
प्रीतास्ते सततं पुत्र दमेनावां च पूजया ।। ११ ।।

वत्स! मेरे पिताके पितामह और प्रपितामह आदि सभी तुम्हारे इन्द्रियसंयमसे सदा प्रसन्न रहते हैं। हम दोनों भी तुम्हारे द्वारा की हुई पूजा-सेवासे बहुत संतुष्ट हैं ।। ११ ।।

मनसा कर्मणा वाचा शुश्रूषा नैव हीयते ।
न चान्या हि तथा बुद्धिर्दृश्यते साम्प्रतं तव ।। १२ ।।

तुम मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी हम दोनोंकी सेवा नहीं छोड़ते। इस समय भी तुम्हारा विचार इसके प्रतिकूल नहीं दिखायी देता ।। १२ ।।

जामदग्न्येन रामेण यथा वृद्धौ सुपूजितौ ।
तथा त्वया कृतं सर्वं तद्विशिष्टं च पुत्रक ।। १३ ।।

बेटा! जमदग्निनन्दन परशुरामने जिस प्रकार अपने वृद्ध माता-पिताकी सेवा-पूजा की थी, उसी प्रकार तथा उससे भी बढ़कर तुमने हमारी सब सेवाएँ की हैं ।। १३ ।।

ततस्तं ब्राह्मणं ताभ्यां धर्मव्याधो न्यवेदयत् ।
तौ स्वागतेन तं विप्रमर्चयामासतुस्तदा ।। १४ ।।

तदनन्तर धर्मव्याधने अपने माता-पिताको उस कौशिक ब्राह्मणका परिचय दिया। तब उन दोनोंने भी स्वागतपूर्वक ब्राह्मणका पूजन किया ।। १४ ।।

प्रतिपूज्य च तां पूजां द्विजः पप्रच्छ तावुभौ ।
सुपुत्राभ्यां सभृत्याभ्यां कच्चिद् वां कुशलं गृहे ।। १५ ।।
अनामयं च वां कच्चित् सदैवेह शरीरयोः ।

ब्राह्मणने उनके द्वारा की हुई पूजाको स्वीकार करके कृतज्ञता प्रकट की और उनसे पूछा—'आप दोनों इस घरमें अपने सुयोग्य पुत्र तथा सेवकोंके साथ सकुशल तो हैं न? आप दोनों शरीरसे भी सदा नीरोग रहते हैं न?' ।। १५½ ।।

वृद्धावूचतुः

कुशलं नौ गृहे विप्र भृत्यवर्गे च सर्वशः ।
कच्चित् त्वमप्यविघ्नेन सम्प्राप्तो भगवन्निति ।। १६ ।।

उन वृद्धोंने उत्तर दिया—ब्रह्मन्! इस घरमें हम दोनों सकुशल हैं। हमारे सेवक तथा कुटुम्बके लोग भी कुशलसे हैं। भगवन्! अपना समाचार कहें, आप यहाँ सकुशल पहुँच गये

न? किसी विघ्न-बाधाका सामना तो नहीं करना पड़ा? ।। १६ ।।

मार्कण्डेय उवाच

बाढमित्येव तौ विप्रः प्रत्युवाच मुदान्वितः ।
धर्मव्याधो निरीक्ष्याथ ततस्तं वाक्यमब्रवीत् ।। १७ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! तब कौशिक ब्राह्मणने उन्हें प्रसन्नतापूर्वक उत्तर दिया—'हाँ, मुझे कोई कष्ट नहीं हुआ।' तदनन्तर धर्मव्याधने अपने पिता-माताकी ओर देखते हुए कौशिक ब्राह्मणसे कहा ।। १७ ।।

व्याध उवाच

पिता माता च भगवन्नेतौ मद्दैवतं परम् ।
यद् दैवतेभ्यः कर्तव्यं तदेताभ्यां करोम्यहम् ।। १८ ।।

धर्मव्याध बोला—भगवन्! ये माता-पिता ही मेरे प्रधान देवता हैं। जो कुछ देवताओंके लिये करना चाहिये, वह मैं इन्हीं दोनोंके लिये करता हूँ ।। १८ ।।

त्रयस्त्रिंशद् यथा देवाः सर्वे शक्रपुरोगमाः ।
सम्पूज्याः सर्वलोकस्य तथा वृद्धाविमौ मम ।। १९ ।।

जैसे समस्त संसारके लिये इन्द्र आदि तैंतीस* देवता पूजनीय हैं, उसी प्रकार मेरे लिये ये दोनों बूढ़े माता-पिता ही आराधनीय हैं ।। १९ ।।

उपाहारानाहरन्तो देवतानां यथा द्विजाः ।
कुर्वन्ति तद्वदेताभ्यां करोम्यहमतन्द्रितः ।। २० ।।

द्विजलोग देवताओंके लिये जैसे नाना प्रकारके उपहार समर्पण करते हैं, उसी प्रकार मैं इनके लिये करता हूँ। इनकी सेवामें मुझे आलस्य नहीं होता ।। २० ।।

एतौ मे परमं ब्रह्मन् पिता माता च दैवतम् ।
एतौ पुष्पैः फलै रत्नैस्तोषयामि सदा द्विज ।। २१ ।।

ब्रह्मन्! ये माता-पिता ही मेरे सर्वश्रेष्ठ देवता हैं। मैं सदा फूल, फल तथा रत्नोंसे इन्हींको संतुष्ट करता हूँ ।। २१ ।।

एतावेवाग्नयो मह्यं यान् वदन्ति मनीषिणः ।
यज्ञा वेदाश्च चत्वारः सर्वमेतौ मम द्विज ।। २२ ।।

विप्रवर! जिन्हें विद्वान् लोग 'अग्नि' कहते हैं, वे मेरे लिये ये ही हैं। चारों वेद और यज्ञ सब कुछ मेरे लिये ये माता-पिता ही हैं ।। २२ ।।

एतदर्थं मम प्राणा भार्या पुत्रः सुहृज्जनः ।
सपुत्रदारः शुश्रूषां नित्यमेव करोम्यहम् ।। २३ ।।

मेरे प्राण, स्त्री, पुत्र, और सुहृद् सब इन्हींकी सेवाके लिये हैं। मैं स्त्री और पुत्रोंके साथ प्रतिदिन इन्हींकी शुश्रूषामें लगा रहता हूँ ।। २३ ।।

स्वयं च स्नापयाम्येतौ तथा पादौ प्रधावये ।
आहारं च प्रयच्छामि स्वयं च द्विजसत्तम ।। २४ ।।

द्विजश्रेष्ठ! मैं स्वयं ही इन्हें नहलाता हूँ, इनके चरण धोता हूँ और स्वयं ही भोजन परोसकर इन्हें जिमाता हूँ ।। २४ ।।

अनुकूलं तथा वच्मि विप्रियं परिवर्जये ।
अधर्मेणापि संयुक्तं प्रियमाभ्यां करोम्यहम् ।। २५ ।।

मैं वही बात बोलता हूँ, जो इनके मनके अनुकूल हो, जो इन्हें प्रिय न लगे, ऐसी बात मुँहसे कभी नहीं निकालता। इनको पसंद हो, तो मैं अधर्मयुक्त कार्य भी कर सकता हूँ ।। २५ ।।

धर्ममेव गुरुं ज्ञात्वा करोमि द्विजसत्तम ।
अतन्द्रितः सदा विप्र शुश्रूषां वै करोम्यहम् ।। २६ ।।

विप्रवर! इस प्रकार माता-पिताकी सेवारूप धर्मको ही महान् मानकर मैं उसका पालन करता हूँ। ब्रह्मन्! आलस्य छोड़कर मैं सदा इन्हीं दोनोंकी सेवामें लगा रहता हूँ ।। २६ ।।

पञ्चैव गुरवो ब्रह्मन् पुरुषस्य बुभूषतः ।
पिता माताग्निरात्मा च गुरुश्च द्विजसत्तम ।। २७ ।।

ब्राह्मणश्रेष्ठ! उन्नति चाहनेवाले पुरुषके पाँच ही गुरु हैं—पिता, माता, अग्नि, परमात्मा तथा गुरु ।। २७ ।।

एतेषु यस्तु वर्तेत सम्यगेव द्विजोत्तम ।
भवेयुरग्नयस्तस्य परिचीर्णास्तु नित्यशः ।
गार्हस्थ्ये वर्तमानस्य एष धर्मः सनातनः ।। २८ ।।

द्विजश्रेष्ठ! जो इन सबके प्रति उत्तम बर्ताव करेगा, उस गृहस्थ-धर्मका पालन करनेवालेके द्वारा सदा सब अग्नियोंकी सेवा सम्पन्न होती रहेगी। यही सनातन धर्म है ।। २८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २१४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मण-व्याध-संवादविषयक दो सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २१४ ।।

---

* आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र और प्रजापति—ये तैंतीस देवता हैं।

पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

धर्मव्याधका कौशिक ब्राह्मणको माता-पिताकी सेवाका उपदेश देकर अपने पूर्वजन्मकी कथा कहते हुए व्याध होनेका कारण बताना

मार्कण्डेय उवाच

गुरुं निवेद्य विप्राय तौ मातापितरावुभौ ।
पुनरेव स धर्मात्मा व्याधो ब्राह्मणमब्रवीत् ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इस प्रकार धर्मात्मा व्याधने कौशिक ब्राह्मणको अपने माता-पितारूप दोनों गुरुजनोंका दर्शन कराकर पुनः उससे इस प्रकार कहा — ।। १ ।।

प्रवृत्तचक्षुर्जातोऽस्मि सम्पश्य तपसो बलम् ।
यदर्थमुक्तोऽसि तया गच्छ त्वं मिथिलामिति ।। २ ।।
पतिशुश्रूषपरया दान्तया सत्यशीलया ।
मिथिलायां वसेद् व्याधः स ते धर्मान् प्रवक्ष्यति ।। ३ ।।

'ब्राह्मण!' माता-पिताकी सेवा ही मेरी तपस्या है। इस तपस्याका प्रभाव देखिये। मुझे दिव्य-दृष्टि प्राप्त हो गयी है, जिसके कारण उस पतिव्रता देवीने जो सदा पतिकी ही सेवामें संलग्न रहनेवाली, जितेन्द्रिय तथा सत्य एवं सदाचारमें तत्पर है, आपको यह कहकर यहाँ भेजा था कि 'आप मिथिलापुरीको जाइये। वहाँ एक व्याध रहता है। वह आपको सब धर्मोंका उपदेश करेगा' ।। २-३ ।।

ब्राह्मण उवाच

पतिव्रतायाः सत्यायाः शीलाढ्याया यतव्रत ।
संस्मृत्य वाक्यं धर्मज्ञ गुणवानसि मे मतः ।। ४ ।।

ब्राह्मण बोला—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले धर्मज्ञ व्याध! उस सत्यपरायणा और सुशीला पतिव्रता-देवीके वचनोंका स्मरण करके मुझे यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि तुम उत्तम गुणोंसे सम्पन्न हो ।। ४ ।।

व्याध उवाच

यत् तदा त्वं द्विजश्रेष्ठ तयोक्तो मां प्रति प्रभो ।
दृष्टमेव तया सम्यगेकपत्न्या न संशयः ।। ५ ।।

धर्मव्याधने कहा—द्विजश्रेष्ठ! प्रभो! उस पतिव्रता देवीने पहले आपसे मेरे विषयमें जो कुछ कहा है, वह सब ठीक है। इसमें संदेह नहीं कि उसने पातिव्रत्यके प्रभावसे सब कुछ प्रत्यक्ष देखा है ।। ५ ।।

त्वदनुग्रहबुद्धया तु विप्रैतद् दर्शितं मया ।
वाक्यं च शृणु मे तात यत् ते वक्ष्ये हितं द्विज ।। ६ ।।

विप्रवर! आपपर अनुग्रह करनेके विचारसे ही मैंने ये सब बातें आपके सामने रखी हैं। तात! आप मेरी बात सुनिये। ब्रह्मन्! आपके लिये जो हितकर है वही बात बताऊँगा ।। ६ ।।

त्वया विनिकृता माता पिता च द्विजसत्तम ।
अनिसृष्टोऽसि निष्क्रान्तो गृहात् ताभ्यामनिन्दित ।। ७ ।।
वेदोच्चारणकार्यार्थमयुक्तं तत् त्वया कृतम् ।
तव शोकेन वृद्धौ तावन्धीभूतौ तपस्विनौ ।। ८ ।।

द्विजश्रेष्ठ! आपने माता-पिताकी उपेक्षा की है। वेदाध्ययन करनेके लिये उन दोनोंकी आज्ञा लिये बिना ही आप घरसे निकल पड़े हैं। अनिन्द्य ब्राह्मण! यह आपके द्वारा अनुचित कार्य हुआ है। आपके शोकसे ये दोनों बूढ़े एवं तपस्वी माता-पिता अन्धे हो गये हैं ।।

तौ प्रसादयितुं गच्छ मा त्वां धर्मोऽत्यगादयम् ।
तपस्वी त्वं महात्मा च धर्मे च निरतः सदा ।। ९ ।।

आप उन्हें प्रसन्न करनेके लिये घर जाइये। ऐसा करनेसे आपका धर्म नष्ट नहीं होगा। आप तपस्वी, महात्मा तथा निरन्तर धर्ममें तत्पर रहनेवाले हैं ।। ९ ।।

सर्वमेतदपार्थं ते क्षिप्रं तौ सम्प्रसादय ।
श्रद्दधस्व मम ब्रह्मन् नान्यथा कर्तुमर्हसि ।
गम्यतामद्य विप्रर्षे श्रेयस्ते कथयाम्यहम् ।। १० ।।

परंतु माता-पिताको संतुष्ट न करनेके कारण आपका यह सारा धर्म और व्रत व्यर्थ हो गया है। अतः शीघ्र जाकर उन दोनोंको प्रसन्न कीजिये। ब्रह्मन्! मेरी बातपर श्रद्धा कीजिये। इसके विपरीत कुछ न कीजिये। ब्रह्मर्षे! आप अपने घर जाइये और माता-पिताकी सेवा कीजिये। यह मैं आपके लिये परम कल्याणकी बात बता रहा हूँ ।। १० ।।

ब्राह्मण उवाच

यदेतदुक्तं भवता सर्वं सत्यमसंशयम् ।
प्रीतोऽस्मि तव भद्रं ते धर्माचारगुणान्वित ।। ११ ।।

ब्राह्मण बोला—धर्म, सदाचार और सद्गुणोंसे सम्पन्न व्याध! आपका भला हो। आपने यह जो कुछ बताया है, सब निःसंदेह सत्य है। मैं आपपर बहुत प्रसन्न हूँ ।। ११ ।।

व्याध उवाच

दैवतप्रतिमो हि त्वं यस्त्वं धर्ममनुव्रतः ।
पुराणं शाश्वतं दिव्यं दुष्प्राप्यमकृतात्मभिः ।। १२ ।।

धर्मव्याधने कहा—विप्रवर! आप देवताओंके समान हैं; क्योंकि आपने उस धर्ममें मन लगाया है, जो पुरातन, सनातन, दिव्य तथा मनको न जीतनेवाले पुरुषोंके लिये दुर्लभ है ।। १२ ।।

मातापित्रोः सकाशं हि गत्वा त्वं द्विजसत्तम ।
अतन्द्रितः कुरु क्षिप्रं मातापित्रोर्हि पूजनम् ।
अतः परमहं धर्मं नान्यं पश्यामि कंचन ।। १३ ।।

द्विजश्रेष्ठ! आप माता-पिताके पास जाकर आलस्यरहित हो शीघ्र ही उनकी सेवामें लग जाइये। मैं इससे बढ़कर और कोई धर्म नहीं देखता ।। १३ ।।

ब्राह्मण उवाच

इहाहमागतो दिष्ट्या दिष्ट्या मे सङ्गतं त्वया ।
ईदृशा दुर्लभा लोके नरा धर्मप्रदर्शकाः ।। १४ ।।

ब्राह्मण बोला—नरश्रेष्ठ! मेरा बड़ा भाग्य था, जो यहाँ आया और सौभाग्यसे ही मुझे आपका संग प्राप्त हो गया। संसारमें आप-जैसे धर्मका मार्ग दिखानेवाले मनुष्य दुर्लभ हैं ।। १४ ।।

एको नरसहस्रेषु धर्मविद् विद्यते न वा ।
प्रीतोऽस्मि तव सत्येन भद्रं ते पुरुषर्षभ ।। १५ ।।

हजारों मनुष्योंमेंसे कोई एक भी धर्मके तत्त्वको जाननेवाला है या नहीं—यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। पुरुषर्षभ! आपका कल्याण हो। आज मैं आपके सत्यके कारण आपपर बहुत प्रसन्न हूँ ।। १५ ।।

पतमानोऽद्य नरके भवतास्मि समुद्धृतः ।
भवितव्यमथैवं च यद् दृष्टोऽसि मयानघ ।। १६ ।।

अनघ! मैं नरकमें गिर रहा था। आज आपने मेरा उद्धार कर दिया। इस प्रकार जब मुझे आपका दर्शन मिल गया, तब निश्चय ही आपके उपदेशके अनुसार भविष्यमें सब कुछ होगा ।। १६ ।।

राजा ययातिर्दौहित्रैः पतितस्तारितो यथा ।
सद्भिः पुरुषशार्दूल तथाहं भवता द्विजः ।। १७ ।।

राजा ययाति स्वर्गसे गिर गये थे; परंतु उनके उत्तम स्वभाववाले दौहित्रों (पुत्रीके पुत्रों)-ने पुनः उनका उद्धार कर दिया—वे पूर्ववत् स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित हो गये। पुरुषसिंह! इसी प्रकार आपने भी आज मुझ ब्राह्मणको नरकमें गिरनेसे बचाया है ।। १७ ।।

मातापितृभ्यां शुश्रूषां करिष्ये वचनात् तव ।

नाकृतात्मा वेदयति धर्माधर्मविनिश्चयम् ।। १८ ।।

मैं आपके कहनेके अनुसार माता-पिताकी सेवा करूँगा। जिसका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, वह धर्म-अधर्मके निर्णयको बतला नहीं सकता ।। १८ ।।

दुर्ज्ञेयः शाश्वतो धर्मः शूद्रयोनौ हि वर्तते ।
न त्वां शूद्रमहं मन्ये भवितव्यं हि कारणम् ।। १९ ।।

आश्चर्य है कि यह सनातन धर्म, जिसके स्वरूपको समझना अत्यन्त कठिन है, शूद्रयोनिके मनुष्यमें भी विद्यमान है। मैं आपको शूद्र नहीं मानता। आपका जो शूद्रयोनिमें जन्म हो गया है, इसका कोई विशेष कारण होना चाहिये ।। १९ ।।

येन कर्मविशेषेण प्राप्तेयं शूद्रता त्वया ।
एतदिच्छामि विज्ञातुं तत्त्वेन हि महामते ।
कामया ब्रूहि मे सर्वं सत्येन प्रयतात्मना ।। २० ।।

महामते! जिस विशेष कर्मके कारण आपको यह शूद्रयोनि प्राप्त हुई है, उसे मैं यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ। आप सत्य और पवित्र अन्तःकरणके विश्वासके अनुसार स्वेच्छापूर्वक मुझे सब कुछ बताइये ।। २० ।।

व्याध उवाच

अनतिक्रमणीया वै ब्राह्मणा मे द्विजोत्तम ।
शृणु सर्वमिदं वृत्तं पूर्वदेहे ममानघ ।। २१ ।।

धर्मव्याधने कहा—विप्रवर! मुझे ब्राह्मणोंका अपराध कभी नहीं करना चाहिये। अनघ! मेरे पूर्वजन्मके शरीरद्वारा जो घटना घटित हुई है, वह सब बताता हूँ, सुनिये ।। २१ ।।

अहं हि ब्राह्मणः पूर्वमासं द्विजवरात्मजः ।
वेदाध्यायी सुकुशलो वेदाङ्गानां च पारगः ।। २२ ।।

मैं पूर्वजन्ममें एक श्रेष्ठ ब्राह्मणका पुत्र और वेदाध्ययनपरायण ब्राह्मण था। वेदांगोंका पारंगत विद्वान् माना जाता था। मैं विद्याध्ययनमें अत्यन्त कुशल था ।।

आत्मदोषकृतैर्ब्रह्मन्नवस्थामाप्तवानिमाम् ।
कश्चिद् राजा मम सखा धनुर्वेदपरायणः ।। २३ ।।
संसर्गाद् धनुषि श्रेष्ठस्ततोऽहमभवं द्विज ।

ब्राह्मण! अपने ही दोषोंके कारण मुझे इस दुरवस्थामें आना पड़ा है। पूर्वजन्ममें जब मैं ब्राह्मण था, एक धनुर्वेद-परायण राजाके साथ मेरी मित्रता हो गयी थी। उनके संसर्गसे मैं धनुर्वेदकी शिक्षा लेने लगा और धनुष चलानेकी कलामें मैंने श्रेष्ठ योग्यता प्राप्त कर ली ।। २३ $\frac{१}{२}$ ।।

एतस्मिन्नेव काले तु मृगयां निर्गतो नृपः ।। २४ ।।

सहितो योधमुख्यैश्च मन्त्रिभिश्च सुसंवृतः ।
ततोऽभ्यहन् मृगांस्तत्र सुबहूनाश्रमं प्रति ।। २५ ।।

ब्रह्मन्! इसी समय राजा अपने मन्त्रियों तथा प्रधान योद्धाओंके साथ शिकार खेलनेके लिये निकले। उन्होंने एक ऋषिके आश्रमके निकट बहुत-से हिंसक पशुओंका वध किया ।। २४-२५ ।।

अथ क्षिप्तः शरो घोरो मयापि द्विजसत्तम ।
ताडितश्च ऋषिस्तेन शरेणानतपर्वणा ।। २६ ।।

द्विजश्रेष्ठ! तदनन्तर मैंने भी एक भयानक बाण छोड़ा। उसकी गाँठ कुछ झुकी हुई थी। उस बाणसे एक ऋषि मारे गये ।। २६ ।।

भूमौ निपतितो ब्रह्मन्नुवाच प्रतिनादयन् ।
नापराध्याम्यहं किंचित् केन पापमिदं कृतम् ।। २७ ।।

ब्रह्मन्! बाण लगते ही वे मुनि पृथिवीपर गिर पड़े और अपने आर्तनादसे उस वन्य प्रदेशको गुँजाते हुए बोले, 'आह! मैं तो किसीका कोई अपराध नहीं करता हूँ। फिर किसने यह पापकर्म कर डाला?' ।। २७ ।।

मन्वानस्तं मृगं चाहं सम्प्राप्तः सहसा प्रभो ।
अपश्यं तमृषिं विद्धं शरेणानतपर्वणा ।। २८ ।।

प्रभो! मैंने उन्हें हिंसक पशु समझकर बाण मारा था। अतः सहसा उनके पास जा पहुँचा। वहाँ जाकर देखा कि झुकी हुई गाँठवाले उस बाणसे एक ऋषि घायल होकर धरतीपर पड़े हैं ।। २८ ।।

अकार्यकरणाच्चापि भृशं मे व्यथितं मनः ।
तमुग्रतपसं विप्रं निष्टनन्तं महीतले ।। २९ ।।

यह न करनेयोग्य पाप कर डालनेके कारण मेरे मनमें उस समय बड़ी पीड़ा हुई। वे उग्र तपस्वी ब्राह्मण उस समय धरतीपर पड़े-पड़े कराह रहे थे ।। २९ ।।

अजानता कृतमिदं मयेत्यहमथाब्रुवम् ।
क्षन्तुमर्हसि मे सर्वमिति चोक्तो मया मुनिः ।। ३० ।।

मैंने साहस करके उन मुनीश्वरसे कहा—'भगवन्! अनजानमें मेरे द्वारा यह अपराध बन गया है। अतः आप यह सब क्षमा कर दें' ।। ३० ।।

ततः प्रत्यब्रवीद् वाक्यमृषिर्मां क्रोधमूर्च्छितः ।
व्याधस्त्वं भविता क्रूर शूद्रयोनाविति द्विज ।। ३१ ।।

मेरी बात सुनकर ऋषि क्रोधसे व्याकुल हो गये और उत्तर देते हुए बोले—'निर्दयी ब्राह्मण! तू शूद्रयोनिमें जन्म लेकर व्याध होगा' ।। ३१ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २१५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मण-व्याधसंवादविषयक दो सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २१५ ।।

षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

कौशिक-धर्मव्याध-संवादका उपसंहार तथा कौशिकका अपने घरको प्रस्थान

व्याध उवाच

एवं शप्तोऽहमृषिणा तदा द्विजवरोत्तम ।
अभिप्रसादयमृषिं गिरा त्राहीति मां तदा ।। १ ।।
अजानता मयाकार्यमिदमद्य कृतं मुने ।
क्षन्तुमर्हसि तत् सर्वं प्रसीद भगवन्निति ।। २ ।।

धर्मव्याध कहता है—विप्रवर! जब इस प्रकार ऋषिने मुझे शाप दे दिया, तब मैंने कहा—'भगवन्! मेरी रक्षा कीजिये—मुझे उबारिये। मुने! मैंने अनजानमें यह आज अनुचित काम कर डाला है। मेरा सब अपराध क्षमा कीजिये और मुझपर प्रसन्न हो जाइये।' ऐसा कहकर उन्हें प्रसन्न करनेकी चेष्टा की ।। १-२ ।।

ऋषिरुवाच

नान्यथा भविता शाप एवमेतदसंशयम् ।
आनृशंस्यात् त्वहं किञ्चित् कर्तानुग्रहमद्य ते ।। ३ ।।

ऋषिने कहा—यह शाप टल नहीं सकता। ऐसा होकर ही रहेगा, इसमें संशय नहीं है। परंतु मेरा स्वभाव क्रूर नहीं है, इसलिये मैं तुझपर आज कुछ अनुग्रह करता हूँ ।। ३ ।।

शूद्रयोन्यां वर्तमानो धर्मज्ञो हि भविष्यसि ।
मातापित्रोश्च शुश्रूषां करिष्यसि न संशयः ।। ४ ।।

तू शूद्रयोनिमें रहकर धर्मज्ञ होगा और माता-पिताकी सेवा करेगा। इसमें तनिक भी संदेहके लिये स्थान नहीं है ।। ४ ।।

तया शुश्रूषया सिद्धिं महत्त्वं समवाप्स्यसि ।
जातिस्मरश्च भविता स्वर्गं चैव गमिष्यसि ।। ५ ।।

उस सेवासे तुझे सिद्धि और महत्ता प्राप्त होगी। तू पूर्वजन्मकी बातोंको स्मरण रखनेवाला होगा और अन्तमें स्वर्गलोकमें जायगा ।। ५ ।।

शापक्षये तु निर्वृत्ते भवितासि पुनर्द्विजः ।
एवं शप्तः पुरा तेन ऋषिणास्म्युग्रतेजसा ।। ६ ।।

शापका निवारण हो जानेपर तू फिर ब्राह्मण होगा। इस प्रकार उन उग्र तेजस्वी महर्षिने पूर्वकालमें मुझे शाप दिया था ।। ६ ।।

प्रसादश्च कृतस्तेन ममैव द्विपदां वर ।

शरं चोद्धृतवानस्मि तस्य वै द्विजसत्तम ।। ७ ।।
आश्रमं च मया नीतो न च प्राणैर्व्ययुज्यत ।

नरश्रेष्ठ! फिर उन्होंने ही मेरे ऊपर अनुग्रह किया। द्विजश्रेष्ठ! तदनन्तर मैंने उनके शरीरसे बाण निकाला और उन्हें उनके आश्रमपर पहुँचा दिया। परंतु उनके प्राण नहीं गये ।। ७ $\frac{१}{२}$ ।।

एतत् ते सर्वमाख्यातं यथा मम पुराभवत् ।। ८ ।।
अभितश्चापि गन्तव्यं मया स्वर्गं द्विजोत्तम ।। ९ ।।

विप्रवर! पूर्वजन्ममें मेरे ऊपर जो कुछ बीता था, वह सब मैंने आपसे कह सुनाया। अब इस जीवनके पश्चात् मुझे स्वर्गलोकमें जाना है ।। ८-९ ।।

ब्राह्मण उवाच

एवमेतानि पुरुषा दुःखानि च सुखानि च ।
आप्नुवन्ति महाबुद्धे नोत्कण्ठां कर्तुमर्हसि ।। १० ।।

ब्राह्मण बोला—महामते! मनुष्य इसी प्रकार दुःख और सुख पाते रहते हैं। इसके लिये आपको चिन्ता नहीं करनी चाहिये ।। १० ।।

दुष्करं हि कृतं कर्म जानता जातिमात्मनः ।
लोकवृत्तान्ततत्त्वज्ञ नित्यं धर्मपरायणः ।। ११ ।।

जिसके फलस्वरूप आपको अपने पूर्वजन्मकी बातोंका ज्ञान बना हुआ है, वह पिता-माताकी सेवारूप कर्म दूसरोंके लिये दुष्कर है; किंतु आपने उसे सम्पन्न कर लिया है। आप लोकवृत्तान्तका तत्त्व जानते हैं और सदा धर्ममें तत्पर रहते हैं ।। ११ ।।

कर्मदोषश्च वै विद्वन्नात्मजातिकृतेन ते ।
कञ्चित् कालमुष्यतां वै ततोऽसि भविता द्विजः ।। १२ ।।

विद्वन्! आपको जो यह कर्मदोष (दूषित कर्म) प्राप्त हुआ है, वह आपके पूर्वजन्मके कर्मका फल है। इस जन्मके नहीं। अतः कुछ कालतक और इसी रूपमें रहें। फिर आप ब्राह्मण हो जायँगे ।। १२ ।।

साम्प्रतं च मतो मेऽसि ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
ब्राह्मणः पतनीयेषु वर्तमानो विकर्मसु ।। १३ ।।
दाम्भिको दुष्कृतः प्रायः शूद्रेण सदृशो भवेत् ।

मैं तो अभी आपको ब्राह्मण मानता हूँ। आपके ब्राह्मण होनेमें संदेह नहीं है। जो ब्राह्मण होकर भी पतनके गर्तमें गिरानेवाले पापकर्मोंमें फँसा हुआ है और प्रायः दुष्कर्मपरायण तथा पाखंडी है, वह शूद्रके समान है ।। १३ $\frac{१}{२}$ ।।

यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततोत्थितः ।। १४ ।।
तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेन हि भवेद् द्विजः ।

इसके विपरीत जो शूद्र होकर भी (शम,) दम, सत्य तथा धर्मका पालन करनेके लिये सदा उद्यत रहता है, उसे मैं ब्राह्मण ही मानता हूँ; क्योंकि मनुष्य सदाचारसे ही द्विज होता है ।। १४½ ।।

कर्मदोषेण विषमां गतिमाप्नोति दारुणाम् ।। १५ ।।

क्षीणदोषमहं मन्ये चाभितस्त्वां नरोत्तम ।

कर्मदोषसे ही मनुष्य विषम एवं भयंकर दुर्गतिमें पड़ जाता है। परंतु नरश्रेष्ठ! मैं तो समझता हूँ कि आपके सारे कर्मदोष सर्वथा नष्ट हो गये हैं ।। १५½ ।।

कर्तुमर्हसि नोत्कण्ठां त्वद्विधा ह्यविषादिनः ।

लोकवृत्तानुवृत्तज्ञा नित्यं धर्मपरायणाः ।। १६ ।।

अतः आपको अपने विषयमें किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। आपके-जैसे ज्ञानी पुरुष, जो लोकवृत्तान्तके अनुवर्तनका रहस्य जाननेवाले तथा नित्य धर्मपरायण हैं, कभी विषादग्रस्त नहीं होते हैं ।। १६ ।।

व्याध उवाच

प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः ।

एतद् विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात् ।। १७ ।।

धर्मव्याधने कहा—ज्ञानी पुरुष शारीरिक कष्टका औषधसेवनद्वारा नाश करे और विवेकशील बुद्धिद्वारा मानसिक दुःखको नष्ट करे। यही ज्ञानकी शक्ति है। बुद्धिमान् मनुष्यको बालकोंके समान शोक या विलाप नहीं करना चाहिये ।। १७ ।।

अनिष्टसम्प्रयोगाच्च विप्रयोगात् प्रियस्य च ।

मनुष्या मानसैर्दुःखैर्युज्यन्ते चाल्पबुद्धयः ।। १८ ।।

मन्दबुद्धि मनुष्य ही अप्रिय वस्तुके संयोग और प्रिय वस्तुके वियोगमें मानसिक दुःखसे दुःखी होते हैं ।। १८ ।।

गुणैर्भूतानि युज्यन्ते वियुज्यन्ते तथैव च ।

सर्वाणि नैतदेकस्य शोकस्थानं हि विद्यते ।। १९ ।।

सभी प्राणी तीनों गुणोंके कार्यभूत विभिन्न वस्तु आदिसे जिस प्रकार संयुक्त होते हैं, वैसे ही वियुक्त भी होते रहते हैं। अतः किसी एकका संयोग और किसी एकका वियोग वास्तवमें शोकका कारण नहीं है ।। १९ ।।

अनिष्टं चान्वितं पश्यंस्तथा क्षिप्रं विरज्यते ।

ततश्च प्रतिकुर्वन्ति यदि पश्यन्त्युपक्रमात् ।। २० ।।

यदि किसी कार्यमें अनिष्टका संयोग दिखायी देता है तो मनुष्य शीघ्र ही उससे निवृत्त हो जाता है। और यदि आरम्भ होनेसे पहले ही उस अनिष्टका पता लग जाता है तो लोग उसके प्रतीकारका उपाय करने लगते हैं ।। २० ।।

शोचतो न भवेत् किंचित् केवलं परितप्यते।
परित्यजन्ति ये दुःखं सुखं वाप्युभयं नराः ।। २१ ।।
त एव सुखमेधन्ते ज्ञानतृप्ता मनीषिणः ।
असंतोषपरा मूढाः संतोषं यान्ति पण्डिताः ।। २२ ।।

केवल शोक करनेसे कुछ नहीं होता, संतापमात्र ही हाथ लगता है। जो ज्ञानतृप्त मनीषी मानव सुख और दुःख दोनोंका परित्याग कर देते हैं, वे ही सुखी होते हैं। मूढ़ मनुष्य असंतोषी होते हैं और ज्ञानवानोंको संतोष प्राप्त होता है ।। २१-२२ ।।

असंतोषस्य नास्त्यन्तस्तुष्टिस्तु परमं सुखम् ।
न शोचन्ति गताध्वानः पश्यन्तः परमां गतिम् ।। २३ ।।

असंतोषका अन्त नहीं है, अतः संतोष ही परम सुख है। जिन्होंने ज्ञानमार्गको पार करके परमात्माका साक्षात्कार कर लिया है, वे कभी शोकमें नहीं पड़ते हैं ।।

न विषादे मनः कार्यं विषादो विषमुत्तमम् ।
मारयत्यकृतप्रज्ञं बालं क्रुद्ध इवोरगः ।। २४ ।।

मनको विषादकी ओर न जाने दे। विषाद उग्र विष है। वह क्रोधमें भरे हुए सर्पकी भाँति विवेकहीन अज्ञानी मनुष्यको मार डालता है ।। २४ ।।

यं विषादोऽभिभवति विक्रमे समुपस्थिते ।
तेजसा तस्य हीनस्य पुरुषार्थो न विद्यते ।। २५ ।।

पराक्रमका अवसर उपस्थित होनेपर जिसे विषाद घेर लेता है, उस तेजोहीन पुरुषका कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता ।। २५ ।।

अवश्यं क्रियमाणस्य कर्मणो दृश्यते फलम् ।
न हि निर्वेदमागम्य किंचित् प्राप्नोति शोभनम् ।। २६ ।।

किये जानेवाले कर्मका फल अवश्य दृष्टिगोचर होता है। केवल खिन्न होकर बैठ रहनेसे कोई अच्छा परिणाम हाथ नहीं लगता ।। २६ ।।

अथाप्युपायं पश्येत दुःखस्य परिमोक्षणे ।
अशोचन्नारभेतैवं मुक्तश्चाव्यसनी भवेत् ।। २७ ।।

अतः दुःखसे छूटनेके उपायको अवश्य देखे। शोक और विषादमें न पड़कर आवश्यक कार्य आरम्भ कर दे। इस प्रकार प्रयत्न करनेसे मनुष्य निश्चय ही दुःखसे छूट जाता है और फिर किसी संकट या व्यसनमें नहीं फँसता ।। २७ ।।

भूतेष्वभावं संचिन्त्य ये तु बुद्धेः परं गताः ।
न शोचन्ति कृतप्रज्ञाः पश्यन्तः परमां गतिम् ।। २८ ।।

संसारके सभी पदार्थ अनित्य हैं, ऐसा सोचकर जो बुद्धिसे पार होकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो गये हैं वे ज्ञानी महापुरुष परमात्माका साक्षात्कार करते हुए कभी शोकमें नहीं पड़ते ।। २८ ।।

न शोचामि च वै विद्वन् कालाकाङ्क्षी स्थितो ह्यहम् ।
एतैर्निदर्शनैर्ब्रह्मन् नावसीदामि सत्तम ।। २९ ।।

विद्वन्! मैं अन्तकालकी प्रतीक्षा करता हूँ। अतः कभी शोकमग्न नहीं होता। सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण! उपर्युक्त विचारोंका मनन करते रहनेसे मुझे कभी दुःख या अनुत्साह नहीं होता ।। २९ ।।

ब्राह्मण उवाच

कृतप्रज्ञोऽसि मेधावी बुद्धिर्हि विपुला तव ।
नाहं भवन्तं शोचामि ज्ञानतृप्तोऽसि धर्मवित् ।। ३० ।।

ब्राह्मण बोला—धर्मव्याध! आप ज्ञानी और बुद्धिमान् हैं। आपकी बुद्धि विशाल है। आप धर्मके तत्त्वको जानते हैं और ज्ञानानन्दसे तृप्त रहते हैं। अतः मैं आपके लिये शोक नहीं करता ।। ३० ।।

आपृच्छे त्वां स्वस्ति तेऽस्तु धर्मस्त्वां परिरक्षतु ।
अप्रमादस्तु कर्तव्यो धर्मे धर्मभृतां वर ।। ३१ ।।

अब मैं जानेके लिये आपकी अनुमति चाहता हूँ। आपका कल्याण हो और धर्म सदा आपकी रक्षा करे। धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ व्याध! आप धर्माचरणमें कभी प्रमाद न करें ।। ३१ ।।

मार्कण्डेय उवाच

बाढमित्येव तं व्याधः कृताञ्जलिरुवाच ह ।
प्रदक्षिणमथो कृत्वा प्रस्थितो द्विजसत्तमः ।। ३२ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! कौशिक ब्राह्मणकी बात सुनकर धर्मव्याधने हाथ जोड़कर कहा—'बहुत अच्छा! अब आप अपने घरको पधारें।' तदनन्तर विप्रवर कौशिक धर्मव्याधकी परिक्रमा करके वहाँसे चल दिया ।। ३२ ।।

स तु गत्वा द्विजः सर्वां शुश्रूषां कृतवांस्तदा ।
मातापितृभ्यां वृद्धाभ्यां यथान्यायं सुशंसितः ।। ३३ ।।

घर जाकर उस ब्राह्मणने अपने माता-पिताकी सब प्रकारकी सेवा-शुश्रूषा की और उन बूढ़े माता-पिताने प्रसन्न होकर उसकी यथायोग्य प्रशंसा की ।। ३३ ।।

एतत् ते सर्वमाख्यातं निखिलेन युधिष्ठिर ।
पृष्टवानसि यं तात धर्मं धर्मभृतां वर ।। ३४ ।।

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ तात युधिष्ठिर! तुमने जो प्रश्न किया था, उसके अनुसार मैंने ये सब बातें कह सुनायीं ।।

पतिव्रताया माहात्म्यं ब्राह्मणस्य च सत्तम ।
मातापित्रोश्च शुश्रूषा धर्मव्याधेन कीर्तिता ।। ३५ ।।

साधुश्रेष्ठ! पतिव्रताका माहात्म्य और धर्मव्याधके द्वारा ब्राह्मणसे कही हुई माता-पिताकी सेवा आदिकी बातें बता दीं ।। ३५ ।।

युधिष्ठिर उवाच

अत्यद्भुतमिदं ब्रह्मन् धर्माख्यानमनुत्तमम् ।
सर्वधर्मविदां श्रेष्ठ कथितं मुनिसत्तम ।। ३६ ।।

युधिष्ठिर बोले—ब्रह्मन्! आपने धर्मके विषयमें यह अत्यन्त अद्भुत और उत्तम उपाख्यान सुनाया है। मुनिवर! आप समस्त धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ हैं ।। ३६ ।।

सुखश्रव्यतया विद्वन् मुहूर्त इव मे गतः ।
न हि तृप्तोऽस्मि भगवन् शृण्वानो धर्ममुत्तमम् ।। ३७ ।।

विद्वन! यह कथा सुननेमें इतनी सुखद थी कि मेरा बहुत-सा समय भी दो घड़ीके समान बीत गया। भगवन्! आपके मुखसे यह धर्मकी उत्तम कथा सुनते-सुनते मुझे तृप्ति ही नहीं हो रही है ।। ३७ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २१६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मण-व्याधसंवादविषयक दो सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २१६ ।।